मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 100 ● वर्ष 11, अंक 7 ● सितम्बर 2021 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

धारा 370 व 35 ए निरस्त करने के 2 सालों में क्या बदले हैं कश्मीर के सूरतेहाल? 3

तेलंगाना किसान सशस्त्र संघर्ष के 75 साल : उपलब्धियाँ और सबक़ 9

असम-मिज़ोरम विवाद के मूल कारण क्या हैं? मज़दूर वर्ग को भी इसे क्यों जानना और समझना चाहिए? 11

मेहनतकश जनता के ख़ून-पसीने से खड़ी हुई सार्वजनिक परिसम्पत्तियों को पूँजीपतियों के हवाले करने में जुटी मोदी सरकार

सम्पादक मण्डल

नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा की फ़ासीवादी सरकार जनता को लूटने और पूँजीपतियों के हाथों लुटवाने के नित नये कार्यक्रम पेश कर रही है। नोटबन्दी हो या सार्वजनिक उपक्रमों की सरकारी हिस्सेदारी की बिक्री हो; बढ़ती महँगाई हो या श्रम क़ानूनों की बर्बादी हो, हर मामले में हम यह देख सकते हैं कि "अच्छे दिनों" का नारा देकर सत्ता में आयी भाजपा ने मज़दूरों, ग़रीब किसानों और आम मेहनतकश जनता के जीवन को नारकीय हालात में धकेल दिया है। देश की जनता ग़रीबी, भुखमरी, कुपोषण, अशिक्षा, जानलेवा महँगाई, बढ़ती बेरोज़गारी और इलाज के अभाव में अकाल मृत्यु तक का शिकार हो रही है लेकिन दूसरी ओर थैलीशाहों की तिजोरियाँ रुपयों-पैसों से उफनती जा रही हैं। नेताशाहों और अफ़सरशाहों के ऐशोआराम में कोई कमी-बेशी नहीं हो रही है लेकिन जनता के हलक़ से पहला और आख़िरी निवाला तक निकाल लेने के लिए सरकार प्रतिबद्ध दिखायी दे रही है।

1 फ़रवरी 2021 के अपने बजट भाषण में मोदी सरकार की वित्तमंत्री निर्मला सीतारमण ने घोषणा की थी कि सरकार अवरचनागत ढाँचे की पुरानी परियोजनाओं के लिए राष्ट्रीय मौद्रीकरण कार्यक्रम यानी 'नेशनल मोनिटाइज़ेशन पाइपलाइन' शुरू करेगी। सरकार के अनुसार इसके तहत आठ मंत्रालयों से जुड़ी परिसम्पत्तियों जैसे हाइवे सड़कों, रेलवे लाइनों, मोबाइल टावरों, तेल-गैस पाइप लाइनों, स्टेडियमों इत्यादि को लीज़ या किराये पर देने का रास्ता खोला जायेगा। हालात के अनुसार सरकार इन परिसम्पत्तियों को उपयोग, रखरखाव और वसूली हेतु भी दे सकती है तथा इन्हें निजी कम्पनियों की साझेदारी में भी चला सकती है। विगत 23 अगस्त को वित्तमंत्री निर्मला सीतारमण ने नीति आयोग के अधिकारियों और मौद्रीकरण किये जाने वाले मंत्रालयों-विभागों के सचिवों के साथ मिलकर एक संवाददाता सम्मलेन किया था। इस दौरान लच्छेदार शब्दावली में बार-बार यह कहा गया कि सरकार परिसम्पत्तियों बेच नहीं रही है बल्कि मात्र चार वर्ष के लिए लीज़ पर और किराये पर दे रही है। वित्तमंत्री और नीति आयोग के कठपुतली अधिकारियों का बार-बार कहना था कि सरकार प्राइवेट क्षेत्र के निजी निवेशकों के लिए सार्वजनिक क्षेत्र की पूर्ण परियोजनाओं को खोल देना चाहती है और उन परिसम्पत्तियों से पूरी क्षमता में कमाई करना चाहती है ताकि वह इस पैसे का इस्तेमाल अन्य विकास कार्यों में कर सके!

कुछ लोगों को यह बात काफ़ी समझदारी भरी लग सकती है लेकिन सरकारों की आर्थिक नीतियों के पिछले इतिहास को देखते हुए यह स्पष्ट तौर पर कहा जा सकता है कि यह मौद्रीकरण कार्यक्रम कुछ और नहीं बल्कि सरकारी परिसम्पत्तियों को पूँजीपतियों को लीज़ और किराये पर देने की कवायद का नाम है ताकि वे इन सम्पत्तियों पर मनमाना और मोटा मुनाफ़ा कूट सकें। कुल मिलाकर मौद्रीकरण सरकारी सम्पत्तियों को बेचने और उनका निजीकरण करने के रास्ते का ही मील का पत्थर साबित होने जा रहा है। ख़ुद प्रधानमंत्री मोदी 24 फ़रवरी 2021 को सार्वजानिक क्षेत्र की कम्पनियों पर आयोजित एक वेबिनार में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि सरकार का काम सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों को सम्भालना नहीं है बल्कि कुछ विशिष्ट रणनीतिक क्षेत्रों को छोड़कर उनकी सरकार तमाम मूल्यवान सम्पत्तियों को उचित क़ीमत के बदले निजी हाथों में सौंपने के लिए कटिबद्ध है। ये तमाम सरकारी उद्यम जनता के ख़ून-पसीने की कमाई के बूते खड़े किये गये थे लेकिन मोदी सरकार इनको औने-पौने दामों पर निजी पूँजीपतियों को सौंपने जा रही रही है और इसे जनहित में उठाया गया फ़ैसला क़रार दिया जा रहा है। फ़ासिस्ट मोदी सरकार खुले तौर पर यह घोषणा कर रही है कि वह पूँजीपति वर्ग की प्रबन्धन कमेटी के अलावा कुछ नहीं है।

'राष्ट्रीय मौद्रीकरण कार्यक्रम' में क्या होगा?

राष्ट्रीय मौद्रीकरण कार्यक्रम के तहत सरकार ने वित्तवर्ष 2022 से 2025 के बीच आठ मंत्रालयों के तहत आने वाली सरकारी परिसम्पत्तियों को किराये पर

(पेज 8 पर जारी)

नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के तीस वर्ष

जनता के हिस्से में बस दुःख और तकलीफ़ें ही आयी हैं

– लता

देश में एक ओर बढ़ता धार्मिक उन्माद, नफ़रत और ख़ौफ़ का माहौल और दूसरी ओर आसमान छूती महँगाई, बेरोज़गारी, भुखमरी और बदहाली, ऐसा लगता है जैसे पूरे देश को क्षय रोग ने अपने शिकंजे में कस लिया है। सारी ऊर्जा, ताज़गी और रचनात्मकता पोर-पोर से निचोड़कर इसे पस्त और बेहाल कर दिया है। यह सच है कि भयंकर आर्थिक संकट के काल में जनता के आक्रोश को साम्प्रदायिकता की दिशा में मोड़ने और पूँजीपतियों का हित साधने के लिए फ़ासीवाद का उभार होता है लेकिन ऐसा नहीं है कि फ़ासीवादियों के सत्ता में आने से पहले सब कुछ भला-चंगा था। फ़ासीवाद इजारेदार पूँजीवाद के संकट काल की ही एक राजनीतिक अभिव्यक्ति है लेकिन पूँजीवाद अपने हर काल में मज़दूर और आम मेहनतकश का शोषक ही होता है। आज बहुत लोग कांग्रेस के शासन काल को बेहद भावुक हो कर याद करते हैं। कभी नेहरू तो कभी इन्दिरा गाँधी या राजीव गाँधी की तस्वीरें और वीडियो सोशल मीडिया पर शेयर करते रहते हैं। लेकिन क्या इस बात को नकारा जा सकता है कि आज़ादी के 75 साल बाद भी देश की आम मेहनतकश जनता को एक इन्सानी ज़िन्दगी की बुनियादी चीज़ें भी मयस्सर नहीं हैं? इनकी उम्मीद पूँजीवाद के ब्लैक होल में समाती जा रही है। आज़ादी के 75 सालों में कुपोषण, भुखमरी, ग़रीबी, अशिक्षा और बेरोज़गारी की स्थिति को देखते हुए यह कहना बिल्कुल सही है कि देश को मिली आज़ादी एक पूँजीपति वर्ग और खाते-पीते मध्यवर्ग के लिए आज़ादी थी लेकिन आम जनता के लिए यह एक खण्डित आज़ादी थी। देश अंग्रेज़ों से तो आज़ाद हुआ लेकिन भारत की आम मेहनतकश आबादी के हिस्से में दुःख, तंगी, भूख, बदहाली, बीमारी और बेरोज़गारी आयी। जिन्होंने आज़ादी की लड़ाई लड़ी वे आज़ादी के जश्न से बाहर थे क्योंकि नेता जिसका आज़ादी उसकी। जनता की क्रान्तिकारी शक्ति को हर क़दम नियंत्रण में रखते हुए समझौते-दबाव-समझौते की नीति का पालन करते हुए कांग्रेस ने आज़ादी के संघर्ष का नेतृत्व किया। 1929-30 से आज़ादी मिलने तक विशेषकर मज़दूरों, किसानों, नौजवानों व सेना के संघर्ष, प्रतिरोध और विद्रोह देख कर अंग्रेज़ भी यह समझ गये थे कि आने वाले समय में यदि भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों की रक्षा करनी है तो भारत के शासन की बागडोर कांग्रेस के हाथों सौंपना ज़्यादा फ़ायदेमन्द होगा और देश का पूँजीपति वर्ग भी समझ गया था कि जनता की क्रान्तिकारी शक्तियों को निर्बन्ध होने से रोक कर किसी समझौते के रूप में सत्ता-हस्तान्तरण कर राजनीतिक स्वतंत्रता हासिल

(पेज 14 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

तेलंगाना किसान सशस्त्र संघर्ष के 75 साल

(पेज 9 से आगे)

नेहरू सरकार भूमि क्रान्ति के कार्यभारों को हालाँकि प्रशियाई मार्ग से ही सही और ऊपर से ही सही लेकिन तेज़ी के साथ पूरा करने को विवश हो जाती साथ ही तेज़ पूँजीवादी विकास के साथ भारत जल्दी ही समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल में प्रविष्ट हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। 1951 तक, पार्टी-नेतृत्व में मतभेद के चलते तेलंगाना संघर्ष को इतना नुक़सान पहुँच चुका था कि कम से कम, फ़ौरी तौर पर उसकी पराजय सुनिश्चित हो चुकी थी। फिर भी, उस समय यदि नेतृत्व पर दक्षिणपन्थी धड़ा क़ाबिज़ नहीं होता और पूरी तरह से आत्मसमर्पण करने के बजाय, फ़ौरी तौर पर पीछे हटने और अपनी सैन्य शक्ति को दुर्गम जंगल क्षेत्रों में बिखरा देने के बाद, नये सिरे से उस क्षेत्र में तथा देश के अन्य ऐसे भूभागों में किसान-संघर्ष संगठित किये जाते तो स्थिति को सँभालकर फिर से आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता।

राजेश्वर राव के नेतृत्व में जिस धड़े ने तेलंगाना में सही लाइन ली थी, वह भी विचारधारात्मक रूप से कमज़ोर था। इसके चलते, कुछ समय तक केन्द्रीय कमेटी में प्रभावी होने के दौर में भी वह अपनी लाइन का देशव्यापी स्तर पर सुदृढ़ीकरण नहीं कर सका, विरोधी लाइन के विरुद्ध निर्णायक संघर्ष के बजाय उसने समझौता करने का रुख अपनाया और अन्तत: घुटने टेक दिये।

पार्टी के बोल्शेविक ढंग से एकीकृत न हो पाने की मूल वजह नेतृत्व की विचारधारात्मक कमज़ोरी थी। विचारधारात्मक कमजोरी की वजह से ही पार्टी भारत की ठोस परिस्थितियों में मार्क्सवाद का रचनात्मक ढंग से लागू करके क्रान्ति की मंज़िल व क्रान्ति का रास्ता तय करने की बजाय अन्तरराष्ट्रीय मार्गदर्शन पर निर्भर रही। जिस समय तेलंगाना का स्थानीय नेतृत्व व कार्यकर्ता बहादुरी से किसानों के कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ रहे थे उस समय पार्टी के पास भारत की क्रान्ति का कोई कार्यक्रम तक न था।

आज तेलंगाना के उन गाँवों में उत्पादन के तरीक़े में बुनियादी बदलाव आ चुका है जहाँ कभी किसानों ने बहादुराना संघर्ष छेड़ा था। आज उन गाँवों में जागीरदार और बड़े-बड़े भूस्वामी नहीं हैं और लोग बाज़ार के लिए फ़सल उगाते हैं। दूसरे शब्दों में वहाँ पूँजीवादी विकास हो रहा है। इस वजह से तेलंगाना किसान सशस्त्र संघर्ष के समय की रणनीति और रणकौशल तो आज पुराने पड़ चुके हैं। लेकिन उस दौर में कम्युनिस्टों की बहादुरी, साहस और जनता के साथ घुलमिलकर उसे एकजुट, लामबन्द और संगठित करने के शानदार इतिहास से आज भी प्रेरणा ली जा सकती है। इस शानदार संघर्ष से सकारात्मक व नकारात्मक दोनों प्रकार के सबक़ लिये बिना भारत में क्रान्ति के रथ का पहिया आगे नहीं बढ़ सकता है।

मुफ़्त पानी और बिजली से वंचित दिल्ली की मज़दूर आबादी

(पेज 7 से आगे)

पर मँगा लेती है। खजूरी इलाक़े में ही लगभग 25 से 30 प्लाण्ट लगे हैं जहाँ से पानी की बोतलें (प्रति बोतल 20 रुपये) घर-घर बेची जाती हैं। फ़िलहाल इस इलाक़े की 80 फ़ीसदी आबादी इन बोतलों को ख़रीदकर ही पानी पीती है। 'बिगुल मज़दूर दस्ता' की जाँच-पड़ताल में पाया गया कि इस इलाक़े की बहुसंख्यक मज़दूर आबादी का 1 बोतल लेने पर हर माह सिर्फ़ पानी पर ख़र्चा 600 रुपये होता है और जिस मज़दूर परिवार को 2 या 3 बोतल रोज़ाना ख़रीदनी पड़ती हैं उनका 1200 से1800 रुपये तक हर माह पानी पर ख़र्च होता है! सरकार के प्रश्रय और उदासीनता के कारण पानी बेचने के धन्धे से पानी माफ़िया दिल्ली में मालामाल हो रहा है। इनमें से कई तो ख़ुद आम आदमी पार्टी के नेता व सदस्य हैं और कई उसको नियमित पर्याप्त चन्दा भी देते हैं। अगर सरकार ने हर इलाक़े में पानी की समुचित व्यवस्था कर दी और घर-घर साफ़ पानी पहुँचा दिया, तो इस पानी माफ़िया पूँजीपति वर्ग का क्या होगा?

बहरहाल, दिल्ली के अधिकतर मज़दूर इलाक़ों का भी कमोबेश हाल यही है। कोरोना काल में जब बहुत से मज़दूरों का काम छूट गया या वेतन कम हो गया है, ऐसे में पीने के पानी पर इतना ख़र्च एक भारी बोझ है। पीने का साफ़ पानी सभी को मुफ़्त मिलना किसी भी नागरिक का बुनियादी अधिकार है। दिल्ली की आबादी 2 करोड़ है, इस हिसाब से दिल्ली को 609 एमजीडी (मिलियन गैलन प्रतिदिन) पीने का पानी चाहिए। दिल्ली पानी की आपूर्ति के लिए हरियाणा राज्य पर भी निर्भर होती है। केजरीवाल सरकार का आरोप है, जितना पानी हरियाणा को दिल्ली भेजना होता है, उतना नहीं भेजा जाता है। हालाँकि हरियाणा सरकार दिल्ली सरकार की इस बात को ख़ारिज करती है। ख़ैर, पूँजीपतियों के तलवे चाटने वाली दोनों सरकारों की खींचतान में पिसती है दिल्ली की ग़रीब जनता जिस तक पीने का पानी तक नहीं पहुँच पाता है। एक बार मान भी लें कि हरियाणा सरकार दिल्ली को पर्याप्त पानी नहीं देती, तब ऐसे में केजरीवाल हमेशा सभी दिल्ली वालों को मुफ़्त पानी देना का राग क्यों अलापता रहता है? एक ख़बर के मुताबिक़ दिल्ली जल बोर्ड के पास 10 साल पहले 30 हज़ार से अधिक कर्मचारी थे, जो पाइपलाइन की देखरेख से जुड़े थे। आज इनकी संख्या 15 हज़ार से भी कम हो गयी है। बीते 10 सालों से नयी नियुक्ति बन्द है। आधे से भी कम कर्मचारियों से काम चलाया जा रहा है। केजरीवाल सरकार इन कर्मचारियों की भर्ती नहीं कर रही है।

जहाँ तक 24 घण्टे मुफ़्त बिजली देना का वायदा है, तो उसकी भी असलियत यही है कि दिल्ली में किरायेदार ग़रीब आबादी के लिए बिजली मुफ़्त नहीं है। बल्कि इस किरायेदार आबादी को तो बिजली के सरकारी रेट से ज़्यादा देना पड़ता है, इस समय दिल्ली में सरकारी रेट 3 रुपये प्रति यूनिट है, जिसमें 200 यूनिट तक मुफ़्त हैं। मकानमालिक एक किरायेदार के कमरे पर एक सबमीटर (छोटा मीटर) लगा देता है और इस पर 7 से 9 रुपये तक प्रति यूनिट लेता है। इस तरह किरायेदार का हर माह बिजली का बिल औसतन 500 से 800 बन जाता है, जबकि केजरीवाल सरकार कहती है कि किरायेदार सबमीटर न लगवाकर अलग से सरकारी मीटर ही लगवा सकते हैं। इसके लिए मकान मालिक के ज़मीन के काग़ज़ व आधार कार्ड लगेगा। अब यह तो कोई भी समझ सकता है कि आमतौर पर कोई भी मकानमालिक अपने ज़मीन के काग़ज़ किरायेदार को बिजली का नया मीटर लगाने के लिए नहीं देगा। असल में केजरीवाल सरकार भी मोदी सरकार की तरह घोर मज़दूर-विरोधी ही है। दिल्ली में रहने वाली बहुसंख्यक मज़दूर आबादी के लिए तो आम आदमी पार्टी की केजरीवाल सरकार भी कांग्रेस और भाजपा की सरकारों जैसी ही लुटेरी है, बस फ़र्क़ यह है कि कोई पूँजीपतियों की सेवा करने का काम ज़्यादा तेज़ी और मज़दूर-विरोधी तरीक़े से करता है, तो कोई थोड़ा धीमे रफ़्तार से। लेकिन सेवा ये सभी पूँजीवादी चुनावी पार्टियाँ पूँजीपतियों की ही करती हैं क्योंकि ये उन्हीं के दिये धन पर पलती हैं।

– बिगुल संवाददाता

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" **– लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।

बिगुल के लिए सहयोग भेजिए/जुटाइए।

सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिए।

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमश: उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर नि:शुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0185400
पंजाब नेशनल बैंक, अलीगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :

फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546, 9971196111
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 9721481546
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-90, फ़ोन: 88607 92320
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति – 5/- रुपये वार्षिक – 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता – 2000/- रुपये

फ़ासिस्ट मोदी सरकार द्वारा अनुच्छेद 370 व 35 ए निरस्त किये जाने के दो साल पूरे

भारतीय राज्य द्वारा कश्मीरी क़ौम के दमन के इस नये क़दम से क्या बदले हैं कश्मीर के सूरतेहाल?

– शिवानी कौल

इस साल 5 अगस्त को मोदी सरकार द्वारा कश्मीर में अनुच्छेद 370 और 35 ए को हटाये जाने के दो साल पूरे हो गये और साथ ही जम्मू-कश्मीर राज्य को तीन टुकड़ों में बाँटे जाने और केन्द्रशासित प्रदेश में तब्दील किये जाने के भी दो साल पूरे हो गये। भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीरी क़ौम से किये गये अनगिनत विश्वासघातों की लम्बी फेहरिस्त में 5 अगस्त, 2019 को तब एक नयी कड़ी जुड़ गयी थी जब केन्द्रीय गृह मंत्री अमित शाह ने संसद में अनुच्छेद 370 और 35 ए निरस्त करने की घोषणा की थी।

इस क़दम के तत्काल बाद ही कश्मीर को सैन्य छावनी में तब्दील कर दिया गया था और वहाँ दस लाख से ज़्यादा सैन्यकर्मियों की तैनाती कर दी गयी थी। लोगों को अपने ही घरों में क़ैद कर दिया गया था। हज़ारों कश्मीरियों को भारत की जेलों में ठूँस दिया गया क्योंकि कश्मीर की जेलों में जगह बची नहीं थी। राजनीतिक कार्यकर्ताओं, उद्यमियों, आम नागरिकों को नज़रबन्द या गिरफ़्तार कर दिया गया। यहाँ तक कि उन राजनीतिक प्रतिनिधियों और मुख्यधारा के कश्मीरी नेताओं को भी नहीं बख़्शा गया जो भारतीय शासकों के प्रति समझौतापरस्त और नर्म रुख़ रखते थे। इस दौरान कश्मीरी मीडिया को भी पूरी तरह से 'ब्लैकआउट' कर दिया गया था। दर्जनों कश्मीरी पत्रकारों के ख़िलाफ़ यूएपीए के काले क़ानून के तहत फ़र्ज़ी मुक़दमे दर्ज किये गये। आधिकारिक आँकड़ों के अनुसार कश्मीर में 2019 से अब तक यूएपीए के 2,364 मामले दर्ज किये जा चुके हैं। संचार के सभी माध्यम बन्द कर दिये गये हैं, फ़ोन-मोबाइल-इण्टरनेट सेवाएँ बन्द कर दी गयीं। पूरे कश्मीर को ही जेलख़ाने में तब्दील कर दिया गया। भारतीय मीडिया इसे कश्मीर में 'लॉकडाउन' की संज्ञा दे रहा था, जबकि यह लॉकडाउन नहीं, विशुद्ध क़ब्ज़ा है।

हालाँकि कश्मीरियों के लिए दहशत के इस माहौल में नया कुछ नहीं था। कश्मीरी क़ौम की कई पीढ़ियाँ इसी माहौल में पैदा हुई और पली-बढ़ी हैं। और न ही कश्मीरियों के लिए भारतीय राज्यसत्ता द्वारा किया गया यह नया विश्वासघात ही अप्रत्याशित था। आज़ादी के बाद से ही और जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस के समय से ही कश्मीरी क़ौम ने भारतीय राज्य के तमाम छल-कपट, फ़रेब और वायदाख़िलाफ़ियाँ काफ़ी क़रीबी से देखी हैं क्योंकि कश्मीरी क़ौम, उसकी आकांक्षाओं और आत्मनिर्णय के उसके अधिकार के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात की शुरुआत तो कांग्रेस के समय से ही हो गयी थी। अनुच्छेद 370 को वास्तव में कमज़ोर और निष्प्रभावी बनाने की शुरुआत उसी दौर से हो चुकी थी, जिसे बाक़ी भारतीय हुक्मरानों द्वारा जारी रखा गया था और जिसे फ़ासीवादी मोदी सरकार ने शीर्ष पर पहुँचाकर अब तक के सारे रिकॉर्ड ध्वस्त कर दिये।

"दूध माँगोगे तो खीर देंगे, कश्मीर माँगोगे तो चीर देंगे" वाले अन्धराष्ट्रवादी और युद्धोन्मादी कोरस में शामिल होने से पहले हम अगर थोड़ा ठहरकर सोचें कि लगातार डर, दहशत, राजकीय हिंसा के साये में जीना क्या होता है, तो शायद एक आम कश्मीरी की तरह हम महसूस कर पायें। चलिए एक बार ज़रा कश्मीर के इस सूरतेहाल की तुलना पिछले साल कोरोना महामारी के समय मोदी सरकार द्वारा अचानक बिना किसी तैयारी के थोपे गये लॉकडाउन से करें। निस्संदेह, इस देश के मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी पर इस अनियोजित लॉकडाउन के कारण अकथनीय दुखों-तकलीफ़ों का पहाड़ टूट पड़ा था। मोदी सरकार का असली मज़दूर-विरोधी और फ़ासिस्ट मानवद्रोही चेहरा उस वक़्त खुलकर देश के मज़दूरों-मेहनतकशों के सामने आ गया था। भारत के मध्य वर्ग के भी एक हिस्से को दिक़्क़त-परेशानी तो पेश आयी ही थी। हाँ, बाक़ी खाते-पीते उच्च-मध्य वर्ग और धन-पशुओं की जमातों को लॉकडाउन से कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं पड़ा था। बस मॉल्स में ख़रीदारी करने, सिनेमा घरों में पिक्चर देखने, बाहर जाकर फ़ैंसी रेस्टोरेंट्स में खाने पर जरूर कुछ वक़्त के लिए पाबन्दी लग गयी थी! लेकिन वह कसर इण्टरनेट सेवाओं की मौजूदगी ने पूरी कर दी थी। 'नेटफ़्लिक्स' और 'अमेज़न प्राइम' पर ऑनलाइन फ़िल्में देखते हुए 'स्विगी' और 'ज़ोमैटो' से ऑनलाइन फ़ूड-डिलीवरी करवा कर घर बैठे ज़िन्दगी का लुत्फ़ तो उठाया ही जा सकता था, जो इस खाते-पीते वर्ग द्वारा भरपूर उठाया भी गया। जहाँ तक ख़रीदारी का सवाल था तो ऑनलाइन ब्राण्डेड कपड़े, जूते, फ़ोन वग़ैरह भी कुछ समय बाद मँगवाये जाने शुरू हो गये थे। यानी प्रधानमंत्री मोदी के शब्दों में कहें तो इस वर्ग के लिए "सब चंगा सी"! लेकिन फिर भी भारत के ये विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग भी घर बैठे-बैठे उकता गये थे।

अब फ़र्ज़ करें की अगर इण्टरनेट की सुविधा लॉकडाउन के वक़्त मौजूद नहीं होती तो क्या होता? फ़ेसबुक-ट्विटर-इन्स्टाग्राम की आभासी दुनिया में जीने वाली एक अच्छी-ख़ासी मध्यवर्गीय और उच्च मध्य-वर्गीय आबादी, एकदम नंगे शब्दों में कहें, तो या तो पागल हो गयी होती या फिर अवसादग्रस्त! अब यह भी फ़र्ज़ करें कि अगर यह लॉकडाउन एक बेमियादी कर्फ़्यू में तब्दील कर दिया गया होता तो क्या होता? यह बात यहाँ इसलिए कही जा रही है ताकि भारतीय राष्ट्रवाद और कल्पित देशभक्ति की घुट्टी पीकर बड़ा हुआ भारत का मध्यवर्ग यह समझ पाये कि भारतीय राज्य का कश्मीर पर क़ब्ज़ा और कश्मीरियों पर क़हर और आंतक किसी दुस्वप्न से कम नहीं है और एक आम मध्यवर्गीय भारतीय के लिए अकल्पनीय है। हालाँकि भारत का मज़दूर वर्ग थोड़ी कोशिश करके इसे ज़्यादा आसानी से समझ सकता है क्योंकि राजकीय हिंसा की तमाम "अदृश्य" अभिव्यक्तियों से उसका सामना रोज़-ब-रोज़ होता है।

एक आम कश्मीरी भयंकर हालात में साल दर साल क़ैद करके रखा गया है, और तो और सभी बुनियादी सुविधाओं से महरूम रखकर। कश्मीरी कवि आग़ा शाहिद अली ने एक जगह लिखा था कि हर कश्मीरी अपने घर का पता अपनी जेब में रखकर चलता है, ताकि कम से कम उसकी लाश घर पहुँच जाये! यह है कश्मीर में ज़िन्दगी और मौत की हक़ीक़त! भारतीय सुरक्षा बलों द्वारा एनकाउण्टर किया जाना या अगवा कर लिया जाना, पेलेट बन्दूक़ों द्वारा नन्हे मासूम बच्चों को अन्धा बना दिया जाना, वर्षों तक जेलों में बिना किसी सुनवाई के सड़ने के लिए छोड़ दिया जाना, रात में किसी भी वक़्त घरों के दरवाज़ों पर दस्तक देकर "पूछताछ" के बहाने पुलिसकर्मियों और सैन्य बलों द्वारा उठा लिया जाना, यातनाओं के नये तरीक़ों के लिए 'गिनी पिग्स' की तरह इस्तेमाल किया जाना, सुरक्षाबलों द्वारा औरतों के साथ कुनान-पुश्पोरा जैसे सामूहिक बलात्कार के युद्ध अपराधों को अंजाम दिया जाना – कश्मीरी नौजवानों और आम कश्मीरियों की कितनी ही पीढ़ियाँ तो भारतीय राज्य का यही "सौम्य" और "मानवीय" चेहरा देखकर बड़ी हुई हैं! और फिर इसी आबादी को बताया जाता है कि अनुच्छेद 370 और 35 ए हटाकर उसी का भला किया गया है!

आम तौर पर कश्मीर को लेकर भावुक होने वाला भारतीय मध्य-वर्ग ख़ुद नहीं जानता है कि कश्मीर के भारत के साथ सम्बन्ध का इतिहास और पृष्ठभूमि क्या है? बाक़ी मज़दूर वर्ग अपनी जीवन-स्थितियों और अस्तित्व की जद्दोजहद में उलझे होने के कारण और पूँजीवाद के अन्तर्गत इतिहास और ज्ञान तक सहज पहुँच न होने की वजह से इस बात से अनभिज्ञ है। अनुच्छेद 370 और 35 ए वास्तव में कश्मीर के भारत के साथ सम्बन्ध को परिभाषित करने वाली भारतीय संविधान की धाराएँ थीं। असल में, अनुच्छेद 370 (जिसके तहत जम्मू-कश्मीर को विशेष राज्य का दर्जा और स्वायत्तता हासिल थी) और 35-ए (जो जम्मू-कश्मीर राज्य विधान मण्डल को यहाँ का 'स्थायी निवासी' (domicile) परिभाषित करके राज्य में उन्हें विशेषाधिकार प्रदान करने का हक़ देता था) के मोदी सरकार द्वारा 5 अगस्त 2019 को निरस्त किये जाने के साथ ही भारतीय राज्य सत्ता द्वारा कश्मीरी जनता के साथ अब तक का सबसे बड़ा विश्वास घात किया गया जो 1948 के उस समझौते का सबसे नग्न क़िस्म का उल्लंघन है जिसके तहत कश्मीर ने भारत के साथ सशर्त विलय को स्वीकारा था। कश्मीरी क़ौम इसी शर्त पर भारत के साथ विलय को राज़ी हुई थी कि उसकी स्वायत्तता बरकरार रहेगी, उसका अपना संविधान और झण्डा होगा, उसके अपने क़ानून होंगे आदि। यानी इस विशेष स्थिति को ही अनुच्छेद 370 प्रकट करता था और भारत के साथ कश्मीर के रिश्तों को अभिव्यक्त करता था। अनुच्छेद 370 को रद्द करने के साथ ही कश्मीर का वह संविधान भी अपने आप ही रद्द हो गया। कश्मीर और भारत के बीच इस क़ानूनी क़रारनामे को एकतरफ़ा ढंग से रद्द करने के साथ ही सैद्धान्तिक तौर पर कश्मीर का भारतीय यूनियन में एकीकरण भी निष्प्रभावी हो गया। 26 अक्तूबर 1947 को जिन शर्तों पर भारत में कश्मीर का विलय हुआ था उनमें से कश्मीरी क़ौम से किया गया प्रमुख वायदा जनमत संग्रह या रायशुमारी (referendum/ plebiscite) का था जिसे भारतीय राज्य ने कभी पूरा नहीं किया और दो साल पहले भाजपा सरकार ने उन्हीं शर्तों की बुनियाद को घनघोर निरंकुश तरीक़े से ख़ारिज कर दिया।

यह बात भी उतनी ही सच है कि कश्मीर के विशेष राज्य के दर्जे का कोई ज़्यादा मतलब लम्बे समय से नहीं रह गया था। इतिहास में कांग्रेस से लेकर मौजूदा फ़ासीवादी भाजपा तक की तमाम सरकारों ने राष्ट्रीय दमन की नीति को आगे बढ़ाते हुए हमेशा से कश्मीर के आत्मनिर्णय के अधिकार को फ़ौजी बूटों तले रौंदा और कश्मीरी जनता की आकांक्षाओं और नागरिक अधिकारों में वक़्त-ब-वक़्त सेंधमारी की और अधिकतर समय वहाँ की जनता के भविष्य पर अनिश्चितता की तलवार ही लटकती रही है। चुनाव की पूरी प्रक्रिया भी कश्मीरियों की नज़र में "लोकतंत्र" के स्वांग से ज़्यादा कुछ नहीं है। लेकिन इसके बावजूद भी विशेष दर्जे का कुछ मतलब था क्योंकि जैसा कि हमने पहले भी बताया कि यही वे शर्तें थीं जो भारत से कश्मीर के सम्बन्ध को परिभाषित करती थीं। हालाँकि भारतीय राज्यसत्ता की कारगुज़ारियाँ कश्मीर की अवाम के अन्दर लगातार अविश्वास और अलगाव को बढ़ावा देने का काम करती रही हैं। आज कश्मीर में 7 नागरिकों के ऊपर एक सशस्त्रबल का जवान है और कश्मीर दुनिया भर में सबसे ज़्यादा सैन्यकृत क्षेत्र है।

अनुच्छेद 370 हटाने के पीछे मोदी सरकार का दावा था कि असल में यही कश्मीर में "दहशतगर्दी" की जड़ है। इसकी वजह से ही कश्मीर का आर्थिक और सामाजिक विकास रुका हुआ था। यह भी दावा किया गया था कि कश्मीर में इसके हटाये जाने के साथ ही स्थिरता आयेगी, आतंकवाद ख़त्म होगा, रोज़गार का सृजन होगा, आदि-आदि। लुब्बेलुबाब यह कि अब कश्मीर में दूध की नदियाँ बहेंगी! क्योंकि ख़ून की नदियाँ बहाकर फ़ासिस्टों और भारतीय हुक्मरानों को चैन नहीं पड़ा था!

कश्मीर के विशेष दर्जे को ख़त्म करने का वायदा मोदी सरकार ने अपने चुनाव घोषणापत्र में ही किया था। दरअसल कश्मीर के बहाने नरेन्द्र मोदी और फ़ासीवादी भाजपा न सिर्फ़ अपनी राजनीतिक 'कांस्टिटुएन्सी' की तात्विक शक्तियों के समक्ष "हिन्दू हृदय सम्राट" की मिथ्या-छवि को सुदृढ़ करने की कोशिश में हैं बल्कि पूरे देश में ही कश्मीर के संवेदनशील राजनीतिक औज़ार का इस्तेमाल करके अन्धराष्ट्रवादी और हिन्दुत्ववादी साम्प्रदायिक बयार बहाने की फ़िराक़ में भी हैं। इसके अलावा भारतीय शासक वर्ग के ऐतिहासिक विस्तारवाद को आगे बढ़ाते हुए कश्मीर को भारत के पूँजीपति वर्ग के लिए श्रमशक्ति की लूट और प्राकृतिक सम्पदा के दोहन का खुला चरागाह बनाने का मंसूबा भी है। आपको याद होगा कि मोदी सरकार ने पिछले साल 5 अगस्त की तारीख़ को इवेण्ट में तब्दील कर "कश्मीर पर जीत" के कुण्ठित विजयोन्माद के प्रदर्शन के दिन के तौर पर मनाया था। साथ ही साथ इस तारीख़ के नाम एक घृणित कारनामा और किया गया था – वह था अयोध्या में भूमिपूजन करके राम मन्दिर निर्माण की आधार शिला रखना। यानी कश्मीर का मुद्दा भारतीय फ़ासिस्टों को मुख्यभूमि भारत में एक तीर से कई निशाने लगाने का मौक़ा देता है।

कश्मीर से "दहशतगर्दी" ख़त्म किये जाने के दावे की सच्चाई यह है कि आज पहले से भी ज़्यादा नौजवान हथियार उठा रहे हैं। और यह कहीं बाहर से प्रशिक्षण प्राप्त करके आये हुए "आतंकवादी" नहीं हैं, बल्कि कश्मीर के ही स्थानीय नौजवान हैं। भारतीय राज्य को इससे अलग किसी और बात की उम्मीद करनी भी नहीं चाहिए। यह दशकों से सतह के नीचे लावे की तरह इकट्ठा हुआ अलगाव, अविश्वास, ग़ुस्सा और नफ़रत ही है, जो कभी इस तो कभी उस रास्ते से फूटता है और जो कश्मीर के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष में सही दिशा और रणनीति के अभाव में अन्धी गलियों में भटकता भी रहता है। इस साल जनवरी से अब तक 90 "दहशतगर्द" सुरक्षा बलों के साथ गोलीबारी में मारे गये हैं। इनमें से लगभग सभी कश्मीरी थे और कुछ तो 14 साल तक के बच्चे थे। हाल में ही कश्मीर के गवर्नर मनोज सिन्हा ने एक कार्यक्रम में बेशर्मी के साथ

(पेज 4 पर जारी)

भारतीय राज्य द्वारा कश्मीरी क़ौम के दमन के इस नये क़दम से क्या बदले हैं कश्मीर के सूरतेहाल?

(पेज 3 से आगे)

स्वीकारा भी कि कश्मीरियों के ख़िलाफ़ "डण्डा" इस्तेमाल करने में कुछ भी ग़लत नहीं है! यह है भारतीय राज्यसत्ता का असली चेहरा।

कश्मीर के आर्थिक विकास के दावे की पोल इसी बात से खुल जाती है कि पिछले दो सालों में जनजीवन, बाग़बानी, व्यापार और पर्यटन उद्योग को गहरा आघात पहुँचा है। हज़ारो लोगों के हाथ से रोज़गार छिन गया है और जनता का जीवन, जो पहले से ही त्रस्त और परेशानहाल था, और गहरे अँधेरे में धकेल दिया गया है। पिछले दो सालों में काम-धन्धे ठप होने के कारण बैंक और अन्य प्रकार के ऋण प्राप्त लोगों के सामने लोन आदि चुकाने की एवज़ में अपनी ज़मीनें तक बेचने की नौबत आ रही है या बैंकों के द्वारा उन्हें ज़ब्त कर लिया जायेगा। बन्द के दौरान कश्मीर में इण्टरनेट पर पूरी तरह से प्रतिबन्ध रहा और लम्बे समय तक 2जी स्पीड ही चलती रही। इस साल फ़रवरी में जाकर 4जी इण्टरनेट सेवाएँ पूरी तरह से बहाल की गयी थीं। यह भारतीय राज्य द्वारा इसीलिए किया गया था कि कश्मीर में किसी क़िस्म का कोई प्रतिरोध संगठित न हो पाये और भारतीय राज्यसत्ता द्वारा की जा रही ज़्यादतियाँ दुनिया के सामने न ज़ाहिर हों। इण्टरनेट की सुविधा न होने के कारण स्कूल-कॉलेज के छात्र-छात्राओं को ख़ासी दिक्क़तें पेश आयीं। कई छात्र तो ज़रूरी इम्तिहानों में भी नहीं बैठ पाये। इण्टरनेट बन्द होने के कारण ही झेलम में खनन समेत विभिन्न सरकारी विभागों के टेण्डर ग़ैर-कश्मीरी उद्योगपतियों के हाथ में चले गये। यह भी सीधे तौर पर कश्मीर के राष्ट्रीय दमन का हिस्सा ही है। बन्द की आंशिक समाप्ति के बाद जन-जीवन कुछ पटरी पर आने ही लगा था कि लोगों पर कोरोना महामारी और लॉकडाउन का क़हर टूट पड़ा। वैसे तो मोदी सरकार की आपराधिक लापरवाही और नाक़ाबिलियत ने पूरे भारत की ही मेहनतकश जनता के जीवन को संकट में डाल दिया लेकिन पहले से ही परेशान हाल कश्मीरी अवाम पर आपदा का भार और भी अधिक पड़ा है।

फिर पिछले साल ही केन्द्र सरकार द्वारा जारी राजपत्र में जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन आदेश 2020 अधिवास अधिनियम के अन्तर्गत कश्मीर के 'डोमिसाइल' नियमों में बदलाव किये गये। अब जम्मू-कश्मीर में 15 वर्ष रहने वाले अथवा 7 साल की अवधि तक राज्य में पढ़ाई करने वाले (जो कक्षा 10वीं या 12वीं में जम्मू-कश्मीर में स्थित किसी शैक्षणिक संस्थान में उपस्थित रहे हों) यहाँ के स्थायी निवास प्रमाण पत्र या 'डोमिसाइल' के अधिकारी होंगे। इसके अलावा केन्द्र सरकार के तहत काम कर रहे उन कर्मचारियों के बच्चे भी अधिवास या 'डोमिसाइल' के योग्य होंगे जिन्होंने 10 साल तक राज्य में सेवाएँ दी हों। मोदी सरकार द्वारा अनुछेद 370 और 35ए को निरस्त करने के बाद यह अधिनियम उस की तार्किक परिणति ही है। जिस छल-कपट और साज़िशाना तरीक़े से मोदी सरकार द्वारा 5 अगस्त, 2019 की धोखाधड़ी को अंजाम दिया गया था, हूबहू उसी तरीक़े से 31 मार्च, 2020 का डोमिसाइल सम्बन्धी यह अधिनियम लाया गया था।

इसके बाद कश्मीर के कई महत्वपूर्ण पुराने क़ानूनों को केन्द्र सरकार द्वारा पिछले साल अक्तूबर में मनमाने ढंग से रद्द कर दिया गया जिसमें कश्मीर में ज़मीन-सम्बन्धी मालिकाने के क़ानूनों में बदलाव प्रमुख हैं। आपको याद होगा कि अनुच्छेद 370 के हटाये जाने पर एक विक्षिप्त क़िस्म का उन्माद संघियों में देखने को मिला था जब उनके द्वारा भारत के लोगों को कश्मीर में ज़मीन ख़रीदने के सपने दिखाये जा रहे थे और कश्मीरी औरतों से शादी करने की घटिया, स्त्री-विरोधी मनोरोगी सोच की खुलेआम फ़ासिस्ट मर्दवादी नुमाइश की जा रही थी। वास्तव में भारत की आम मेहनतकश-मज़दूर आबादी, जिसे भारत में ही सिर के ऊपर छत मय्यसर नहीं है, वह कश्मीर में क्या ख़ाक ज़मीन ख़रीदेगी! यह बदलाव वास्तव में भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए ही किये गये हैं जिनके लिए अब तक ये क़ानून पूँजी निवेश और ज़मीन ख़रीदने में बाधा पैदा करते थे। ग़ौरतलब है कि टाटा, रिलायंस समेत 40 कम्पनियों ने जम्मू-कश्मीर में आईटी सेक्टर, रक्षा, पर्यटन, कौशल विकास, शिक्षा, नवीकरणीय उर्जा, आतिथ्य और अवसंरचनागत उद्योग, बाग़बानी आदि उद्योगों में पूँजी-निवेश करने में दिलचस्पी दिखायी है।

कश्मीर की स्वायत्तता को अभिव्यक्त करने वाले जो रहे-सहे क़ानूनी अधिकार थे, उन्हें भी मोदी सरकार द्वारा ख़त्म कर दिया गया। अपनी पूँजी-परस्त विस्तारवादी नीति को अमली जामा पहनाते हुए अब नये क़ानूनी बदलावों के तहत पूँजीपतियों को खुले हाथों से ज़मीन देने के काम की शुरुआत कर दी गयी है। अक्तूबर 2020 में जम्मू-कश्मीर केन्द्र शासित प्रदेश पुनर्गठन (केन्द्रीय क़ानूनों का अनुकूलन) तीसरा आदेश, 2020 (Union Territory of Jammu and Kashmir Reorganization (Adaption of Central Laws) Thirdorder, 2020) और जम्मू-कश्मीर पुनर्गठन (राज्य क़ानूनों का अनुकूलन) पाँचवा आदेश, 2020 (Jammu and Kashmir Reorganization (Adaptation of State Laws) Fifth Order, 2020) के तहत अब पूरे जम्मू-कश्मीर में ज़मीन की ख़रीद-फ़रोख्त को सारे भारतीयों (यानी पूँजीपतियों!) के लिए खोल दिया गया है।

कश्मीर जिन रैडिकल भूमि सुधारों के लिए जाना जाता था, उन्हें विधिक रूप देने वाले क़ानूनों को हटा दिया गया है क्योंकि ये क़ानून बड़े भूमि अधिग्रहण को रोकते थे। साथ ही साथ भारतीय सेना को यह अधिकार दे दिया गया है कि अपनी मर्ज़ी के हिसाब से वह जहाँ चाहे ज़मीन ले सकती है और सरकार को भी यह अधिकार दे दिया गया है कि वह कश्मीर में मौजूद कोई भी ज़मीन और सम्पति, औद्योगिक और पूँजी निवेश के लिए ले सकती है। यह आदेश राज्य के 12 क़ानूनों को निरस्त करते हैं और उसके बदले 14 क़ानूनों को लागू करते हैं लेकिन वास्तविकता में ये आदेश कश्मीरियों के बचे-खुचे अधिकारों पर भी डाका डालने का काम करते हैं। नये क़ानूनी संशोधनों के तहत अब खेतिहर ज़मीन का ग़ैर-कृषि इस्तेमाल के लिए आसानी से उपयोग किया जा सकेगा। रियल एस्टेट उद्योग में निवेश को बढ़ावा देने के लिए रियल एस्टेट (रेग्युलेशन एण्ड डेवलपमेण्ट) एक्ट का केन्द्रीय क़ानून कश्मीर में भी लागू कर दिया गया है। इन नये बदलावों के तहत सामरिक उपयोग के लिए किसी भी ज़मीन का अधिग्रहण सेना द्वारा किया जा सकेगा। दरअसल ये क़ानूनी बदलाव कश्मीर और कश्मीरी समाज की समस्त संरचना को बदलने की निगाह से ही मोदी सरकार द्वारा लागू किये जा रहे हैं।

इसके अलावा एक अन्य आदेश के तहत "पत्थरबाज़ों" को पासपोर्ट के लिए अनापत्ति पत्र नहीं दिया जायेगा। जम्मू-कश्मीर-पुलिस के सीआईडी विंग ने इस साल 31 जुलाई को एक निर्देश जारी कर कहा है कि सरकार या राज्य के ख़िलाफ़ "ध्वंसात्मक कार्य" में लिप्त लोगों को न तो पासपोर्ट के लिए सुरक्षा अनापत्ति मिलेगी और न ही सरकारी सेवाओं और योजनाओं का लाभ मिलेगा। इस आदेश के तहत सभी विभागों को निर्दिष्ट किया गया है कि पासपोर्ट या अन्य सरकारी योजनाओं के लिए आने वाले हरेक आवेदन की ठीक से जाँच-पड़ताल की जानी चाहिए और सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि कहीं आवेदक किसी "राज्य-विरोधी" गतिविधि में तो संलिप्त नहीं है या उसके ख़िलाफ़ पत्थरबाज़ी या किसी अन्य अपराध का कोई मुक़दमा तो दर्ज नहीं है।

अब थोड़ी चर्चा कश्मीर के मौजूदा राजनीतिक नेतृत्व पर भी कर लेते हैं। 5 अगस्त को मुख्यधारा के जिन राजनीतिक नेताओं को नज़रबन्द या गिरफ़्तार कर लिया गया था, उनमें से अधिकांश को पिछले साल अक्टूबर तक रिहा कर दिया गया। उसके बाद ही 15 अक्टूबर, 2020 को नेशनल कान्फ्रेंस, पीडीपी, सीपीएम और अन्य स्थानीय दलों ने मिलकर "गुपकर गठबन्धन" का गठन किया जिसका कथित उद्देश्य अनुच्छेद 370 और कश्मीर के पूर्ण राज्य के दर्जे की बहाली है। दिसम्बर 2020 में फ़ौजी बूटों व बन्दूक़ों के साये तले हुए ज़िला विकास काउंसिल के चुनावों में गुपकर अलायन्स को कुल 278 सीटों में से 110 पर जीत हासिल हुई थी जबकि भाजपा 75 सीटों के साथ सबसे बड़ी पार्टी और वोट शेयर के मामले में भी सबसे बड़ी पार्टी बनकर उभरी थी। यह कश्मीर का विशेष दर्जा ख़त्म किये जाने के बाद के पहले चुनाव थे। भारतीय मीडिया में मतदान प्रतिशत को लेकर काफ़ी शोरगुल मचाया गया कि यह 51 प्रतिशत था। सच्चाई यह है कि यह आँकड़ा जम्मू और कश्मीर दोनों को मिलाकर प्रस्तुत किया गया है। जम्मू में मतदान प्रतिशत ज़्यादा होने के कारण मतदान को बढ़ा-चढ़ा कर पेश करना आसान भी था। कश्मीर के ज़्यादातर इलाक़ों में मतदान प्रतिशत 20 फ़ीसदी भी नहीं था। इसके साथ ही गुपकर गठबन्धन की चुनावों में जीत भी एक भ्रामक तस्वीर पेश करती है। इन "मुख्यधारा" की पार्टियों और उनके नेताओं का कश्मीरी अवाम में कोई आधार अब बचा नहीं है और इन्हें भारतीय राज्य के एजेण्ट के तौर पर ही जाना जाता है।

फिर इस साल 24 जून को गुपकर प्रतिनिधियों को मोदी सरकार द्वारा वार्ता के लिए दिल्ली बुलाया गया था। यहाँ नरेन्द्र मोदी ने अपनी चिर-परिचित ड्रामेबाज़ी के ज़रिए "दिल की दूरी" और "दिल्ली की दूरी" जैसे अर्थहीन जुमलों पर अभिनय कर अहंकारोन्मादी किरदार निभाया। इन समझौतापरस्त अवसरवादी नेताओं ने अच्छे स्कूली बालकों की तरह मोदी जी के "मन की बात" सुनी भी! यही नहीं, फिर साथ में फोटो भी खिंचवायी। मोदी सरकार द्वारा की गयी वार्ता में सरकार द्वारा कहा गया है कि वह पहले 'डीलिमिटेशन' की प्रक्रिया पूरी करेगी यानी लोकसभा और राज्यसभा के चुनाव निर्वाचन मण्डलों का पुनर्निर्धारण करेगी, इसके बाद चुनाव करवायेगी और कश्मीर को राज्य का दर्जा उसके बाद ही दिया जायेगा। वहीं गुपकर गठबन्धन का कहना है कि पहले राज्य का दर्जा दिया जाये। इनमें से कुछेक अनुच्छेद 370 और 35ए को पहले बहाल किये जाने की बात कर रहे हैं और उसके बाद ही चुनाव कराने की बात कर रहे हैं।

यह कश्मीर का बच्चा-बच्चा भी जानता है कि उमर अब्दुल्ला से लेकर महबूबा मुफ़्ती जैसे इन तमाम नेताओं ने अपनी क़ौम और उसके संघर्ष से ग़द्दारी करके भाजपा के साथ सत्ता की सेज तक सजायी है और आम तौर पर भी भारतीय राज्य की कठपुतली बनकर ही काम किया है। यह कश्मीरियों के क़ौमी संघर्ष के सच्चे नुमाइन्दे तो आज क़त्तई नहीं कहलाये जा सकते हैं। नेशनल कॉन्फ्रेंस तो अब यह तक कह रही है कि अनुच्छेद 370 को बहाल करने की माँग अब यथार्थवादी नहीं है! यह दिखला देता है कि माँगों का क्षितिज और एजेण्डा भारतीय राज्य और मोदी सरकार द्वारा तय किया जा रहा है।

जहाँ तक हुर्रियत कान्फ्रेंस व अन्य अलगाववादी संगठनों का प्रश्न है तो 5 अगस्त, 2019 के बाद के घटनाक्रम से यह भी स्पष्ट हो गया है कि इन सबकी भी कोई विशेष साख कश्मीरी अवाम के बीच रह नहीं गयी है। आम तौर पर कश्मीर में चुनाव बहिष्कार का आह्वान करने वाले इन संगठनों ने इस बार उपरोक्त चुनावों का बहिष्कार भी नहीं किया था। ताज़ा ख़बरों के अनुसार मोदी सरकार हुर्रियत कान्फ्रेंस के विभिन्न धड़ों पर यूएपीए के दमनकारी काले क़ानून के तहत प्रतिबन्ध लगाने पर विचार कर रही है। इतना साफ़ है कि मौजूदा राजनीतिक नेतृत्व से आम कश्मीरियों का मोहभंग हो चुका है और उनसे कोई उम्मीद भी बाक़ी नहीं रही है।

तो क्या इन दो सालों में कश्मीर या कश्मीरियों के हालात बदले? बिल्कुल नहीं! बल्कि इस बीच कश्मीर में भारतीय राज्यसत्ता के दमन और आतंक राज में और अधिक इज़ाफ़ा हुआ है। पेलेट गन्स और बन्दूक़ों से बच्चों और नौजवानों को लगातार निशाना बनाया जा रहा है ताकि दहशत और डर के माहौल को बरक़रार रखा जा सके। मानवाधिकारों को दण्ड-मुक्ति के साथ सुरक्षा बलों द्वारा रौंदा जा रहा है। आफ्सपा और पीएसए जैसे काले दमनकारी क़ानूनों के साये में आम कश्मीरी लोग जी रहे हैं। आये दिन घरों पर छापे पड़ रहे हैं। आम नागरिकों, विशेष तौर पर नौजवानों को शक के आधार पर जेलों में डाला जा रहा है। कश्मीर भारतीय राज्य के राजकीय दमन, हिंसा और अभूतपूर्व सैन्यकरण के चक्रव्यूह में आज भी फँसा है।

लेकिन इतिहास भी बताता है कि किसी भी क़ौम की आकांक्षाओं को कुचल कर बड़ी से बड़ी सैन्य ताक़त भी चैन से नहीं बैठ पायी है। तारीख़ गवाह है कि फ़ौजी बूटों और बन्दूक़ों के दम पर किसी छोटे से इलाक़े की भी पूरी आबादी को लम्बे समय तक दबा कर नहीं रखा जा सकता है। सतह के नीचे पनप रहा प्रतिरोध सतह के ऊपर आता ही है। किसी भी क़ौम को ज़बरन, उसकी इच्छा के विरुद्ध अपनी सीमाओं में शामिल करके, कोई भी दमनकारी शासक वर्ग उस क़ौम की आज़ादी की इच्छा का गला हमेशा के लिए नहीं घोंट सकता।

आज भारत के मज़दूर वर्ग और बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी को भी यह समझना होगा कि कश्मीर महज़ काग़ज़ पर बना कोई नक़्शा या "भारत माता का मुकुट" नहीं है, जैसा कि आम तौर पर राष्ट्रवाद के नाम पर हमारे-आपके बीच भी शासक वर्गों द्वारा प्रचारित किया जाता है। कश्मीर सबसे पहले कश्मीरियों का है। और अपने भविष्य का फ़ैसला हर क़ौम ख़ुद करती है। आज भारत के मज़दूर वर्ग और इन्साफ़पसन्द, तरक़्क़ीपसन्द, तब्दीलीपसन्द नागरिकों और छात्रों-नौजवानों को संघर्षरत कश्मीरी क़ौम के आत्मनिर्णय के अधिकार के जनवादी संघर्ष के साथ एकता स्थापित करनी होगी। यह बात भी समझनी होगी कि कोई भी जनता यदि अपनी राज्यसत्ता द्वारा किसी क़ौम के दमन पर मौन रहेगी तो वह ख़ुद भी अपने शासकों द्वारा ग़ुलाम बनाये जाने के लिए अभिशप्त होगी। अन्धराष्ट्रवाद और साम्प्रदायिकता की लहर में बहने की बजाय ठण्डे दिमाग़ से इन बातों पर सोचने की ज़रूरत है।

दिल्ली के 'मास्टरों' के प्लान में ग़रीब मेहनतकश आबादी कहाँ है?

– भारत

दिल्ली को दुनिया का सबसे स्मार्ट शहर बनाने के लिए डी.डी.ए द्वारा बीते महीने मास्टर प्लान 2041 पेश किया गया। दिल्ली को आधुनिक और विकसित शहर बनाने के लिए यह चौथा मास्टर प्लान है। इससे पहले 1962, 2001 और 2021 तक दिल्ली में अलग-अलग मास्टर प्लान लागू हो चुके हैं। डी.डी.ए का मास्टर प्लान पर्यावरण को बेहतर बनाने, परिवहन को सुविधाजनक बनाने तथा आधारभूत संरचना को मज़बूत बनाने की बात पर ज़ोर देता है।

पर सबसे अहम सवाल यह उठता है कि आख़िर डी.डी.ए के 2041 मास्टर प्लान में दिल्ली की मेहनतकश आबादी के लिए क्या है? इसका जवाब है – कुछ नहीं!

मास्टर प्लान का मतलब है चमचमाती हुई दिल्ली जहाँ बड़ी-बड़ी इमारतें हों, मॉल हों, सड़कें हों, मेट्रो हो, जो हर किसी को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। पर मास्टर प्लान में दिल्ली में रहने वाली मेहनतकश आबादी, जो दिल्ली को चलाती है, कारख़ानों से लेकर कोठियों तक में काम करती है, जो झुग्गियों में रहती है, जो रेहड़ी-खोमचा लगाती है, लेबर चौक पर खटकर अपना पेट पालती है, जो बेघर है, उनका कोई ज़िक्र तक नहीं है। उन्हें तलछट में ही रख छोड़ा है और उनके लिए चमचमाती दुनिया की इस स्मार्टसिटी में कोई जगह नहीं है, सिवाय इसके कि वे अपनी ही लाशों के ढेरों के ऊपर अमीरज़ादों की इस चमचमाती दुनिया को खड़ा करें और खड़ा करने के बाद इस स्वर्ग से विदा होकर शहर की परिधियों पर बसी अपनी गन्दी झुग्गी-बस्तियों में वापस लौट जायें।

पिछले मास्टर प्लान की अगर बात करें तो उसका मक़सद भी यही था कि मेहनतकश आबादी को दिल्ली से कैसे बाहर फेंक दिया जाये। उन्हें स्पष्ट कर दिया जाये कि विकसित होती दिल्ली में उनके लिए कोई जगह नहीं है। मास्टर प्लान 2001 के दौरान दिल्ली के कई इलाक़ों से झुग्गियों को तोड़ा गया और दिल्ली के अलग-अलग किनारों पर फेंक दिया गया क्योंकि ये झुग्गियाँ ऐसे इलाक़ों के आसपास बसी थीं, जहाँ अमीर रहते हैं। दूसरी तरफ़ दिल्ली के केन्द्र से औद्योगिक केन्द्रों को भी हटाकर दिल्ली के छोर पर औद्योगिक क्षेत्र स्थानान्तरित किया जा रहा था जहाँ मज़दूरों की भी ज़रूरत थी। इस कारण से भी दिल्ली के अलग-अलग इलाक़ों से हज़ारों झुग्गियों को तोड़कर उन्हें नरेला, पीरागढ़ी, बवाना के आस-पास बसाया गया जो कि औद्योगिक इलाक़े हैं। ग़ौरतलब है कि जितनी झुग्गियाँ तोड़ी गयीं उसमें से बहुत ही कम को पुनर्वास दिया गया। एम.सी.डी के 2007 के एक सर्वे के अनुसार 1990 के बाद से 2007 तक 217 झुग्गी बस्तियों को तोड़ा गया, जिससे क़रीब 65,000 परिवार प्रभावित हुए (याद रखें, यह सरकारी आँकड़ा है; असल संख्या इससे कहीं ज़्यादा है)। इससे ही पता चलता है कि 2001 और 2021 के मास्टर प्लान में ग़रीबों के लिए क्या था। आज विकसित दिल्ली का दम भरा जा रहा है और मेहनतकशों को और अधिक अँधेरे में फेंका जा रहा है। आपको याद ही होगा कि जब 2010 में दिल्ली में राष्ट्रमण्डल खेल हुए थे, तब भी दिल्ली को आलीशान बनाने के नाम पर लोगों को बेघर किया गया था। उस समय क़रीब ढाई लाख लोग सिर्फ़ इसलिए बेघर हुए थे ताकि बाहर देश से आये लोगों को दिल्ली 'सबसे अच्छा फ़र्स्ट क्लास' शहर लग सके।

दिल्ली के एल.जी अनिल बैजल ने लोगों से डी.डी.ए मास्टरप्लान 2041 के प्रस्ताव को बेहतर बनाने के लिए सुझाव माँगे। क़रीब 40,000 सुझाव आये भी। पर मेहनतकश आबादी के लिए या उनसे कोई बात नहीं की गयी। दिल्ली के असंगठित क्षेत्र में क़रीब 50 लाख से भी ज़्यादा लोग काम करते हैं, जो कि दिल्ली की कार्यक्षमता का 70 प्रतिशत है। इनमें से सिर्फ़ छोटे व मँझोले कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की संख्या लाखों में है, हालाँकि पंजीकृत कारख़ानों और मज़दूरों की संख्या सरकार बेहद कम करके 1 लाख बताती है। इसमें 2 लाख कूड़ा बीनने वाले से लेकर 5 लाख घरेलू कामगार तक हैं। इतनी बड़ी आबादी के लिए मास्टर प्लान में कुछ नहीं है। कहने के लिए डी.डी.ए आधारभूत संरचना को मज़बूत करने की बात कर रही है, वहीं दूसरी तरफ़ 2011 के आँकड़ों के मुताबिक़ दिल्ली की ज़मीन के 0.5 प्रतिशत हिस्से पर 20 लाख लोग यानी दिल्ली की 10.8 प्रतिशत आबादी रहती है, जो कि झुग्गीवासी हैं। ये दस साल पहले का आँकड़ा है, सोचिए अब उतने ही हिस्से में क़रीब 30 लाख आबादी तो रहती ही होगी। इनको बेहतर रिहायश देना दिल्ली के मास्टर प्लान का हिस्सा नहीं है। उनके लिए बड़ी समस्या पार्किंग की है, जिसका ज़िक्र डी.डी.ए ने अपनी 400 पन्नों की रिपोर्ट में किया है। पर एक गाड़ी की पार्किंग जितनी जगह पर लोग परिवार सहित रहते है, इसके बारे में कोई ठोस योजना नहीं है।

अब बात करते हैं कि क्या डी.डी.ए से उम्मीद की जा सकती है कि वह अपनी योजना में दिल्ली की मेहनतकश आबादी को शामिल करेगी? पहले ही स्पष्ट कर दें नहीं!

डी.डी.ए को केन्द्र सरकार संचालित करती है और आज जो फ़ासिस्ट सत्ता में बैठे हैं, वह एक-एक करके लोगों का ख़ून निचोड़कर अपने मालिकों की सेवा में करने यक़ीन रखते हैं। कहने के लिए तो मोदी सरकार ने बड़े-बड़े वायदे किये कि 'जहाँ झुग्गी वहाँ मकान' और ना जाने कितने वायदे जो अगर लिखने बैठ जायें तो कई दिन कम पड़ जायेंगे। इसलिए चाहे देश हो, दिल्ली हो या डी.डी.ए., ये विकास के नाम पर सिर्फ़ विनाश करने में माहिर हैं। इसी की एक बानगी अभी खोरी गाँव में देखने को मिली, जहाँ पर्यावरण को बचाने के नाम पर कुछ ही दिनों के भीतर 10-20 हज़ार झुग्गियों को तोड़ दिया गया, पर उसी जगह पर बसे बड़े-बड़े आलीशान होटलों को छोड़ दिया गया।

दूसरी तरफ़ केजरीवाल भी राग अलाप रहा है कि डी.डी.ए हमारे हाथ में नहीं है, होती तो हम ग़रीबों को भी साथ लेते। पर इस 'साफ़-सुथरे' व्यापारियों-मालिकों के पैरोकार की सच्चाई कुछ और ही है। इसने भी दिल्ली की सत्ता में आने के बाद से सिर्फ़ मालिकों और उनके दलालों को ही 'आम आदमी' मानकर उनका ही विकास किया है। मज़दूर-मेहनतकश आबादी आज भी दिल्ली के अन्दर बुनियादी सुविधाओं से वंचित है। घरेलू कामगारों से लेकर असंगठित क्षेत्र के मज़दूर अभी तक श्रम क़ानून के दायरे में नहीं आये हैं, और जो मज़दूर कारख़ानों में खटते हैं, वहाँ कोई श्रम क़ानून लागू नहीं होता। जबकि यह नौटंकीबाज़ केजरीवाल के हाथ में है। यहाँ तक कि आम आदमी पार्टी के नेताओं में ही छोटी और मँझोली फ़ैक्ट्रियों के मालिक और व्यापारी भरे हुए हैं। ज़ाहिर है, ऐसे में आम आदमी पार्टी के लिए 'आम आदमी' भी छोटा मालिक, ठेकेदार और व्यापारी ही हो सकता है, लाखों-लाख आम मेहनतकश-मज़दूर आबादी नहीं।

ऐसे में हमें समझना होगा कि सरकारों और उनकी संस्थाओं के लिए हमेशा विकसित शहर का मतलब सिर्फ़ अमीरों और उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करने से है, न कि मेहनत करने वाले लोगों के जीवन में बेहतरी से। इसीलिए डी.डी.ए ने भी अपना मास्टर प्लान मेहनतकशों की पीठ पर पैर रखकर उन्हें नीचे दबाकर खड़ा किया है ताकि 2041 में दिल्ली में कोई ग़रीब न दिखे। पर सच्चाई यह है कि दिल्ली, देश और दुनिया को जो मेहनतकश चलाते हैं, उन्हें हमेशा दबाकर नहीं रख सकते। आज दिल्ली के मेहनतकश-मज़दूरों को अच्छे से समझ लेना चाहिए कि उनके दुश्मन कौन हैं। निश्चित तौर पर, मोदी सरकार एक फ़ासीवादी सरकार होने के नाते मज़दूरों और ग़रीबों की सबसे बड़ी दुश्मन है। लेकिन केजरीवाल भी छोटा मोदी बनने के प्रयास में आरएसएस का कच्छा पहन चुका है और मज़दूरों को सबसे ज़्यादा बेरहमी से लूटने वाले छोटे मालिकों, ठेकेदारों-जॉबरों और व्यापारियों का नुमाइन्दा है। कांग्रेस स्वयं बड़े पूँजीपतियों की ही नुमाइन्दगी करती है, लेकिन मोदी सरकार द्वारा नंगई और बेशर्मी से पूँजीपतियों की सेवा करने के कारण वह फ़िलहाल भारतीय राजनीति में पहले के मुक़ाबले कुछ अप्रासंगिक दिख रही है। ये सभी पूँजीवादी चुनावी पार्टियाँ पूँजीपति वर्ग के ही अलग-अलग हिस्सों की नुमाइन्दगी करती हैं और उनसे हम मज़दूर-मेहनतकश कोई भी उम्मीद रखकर ख़ुद को ही मूर्ख बनायेंगे। हमें ज़रूरत है कि हम अपना स्वतंत्र राजनीतिक विकल्प खड़ा करें, यानी मज़दूरों-मेहनतकशों की अपनी नयी इन्क़लाबी पार्टी। मास्टरों के प्लान तब धरे के धरे रह जायेंगे और अपनी दुनिया और अपने शहर की प्लानिंग हम ख़ुद कर लेंगे।

मनरेगा मज़दूरों के बजट को खाती अफ़सरशाही

– रमन, क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन, हरियाणा

महात्मा गाँधी राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून यानी मनरेगा की शुरुआत 2005 में हुई थी। इस योजना को शुरू करने का कांग्रेस का मक़सद था कि गाँव से शहर की ओर पलायन करती आबादी को किस तरह से गाँव में ही रोके रखा जाये और सामाजिक असन्तोष को फूटने से रोका जा सके। इसके लिए उन्होंने 100 दिनों के पक्के रोज़गार के नाम पर मनरेगा स्कीम चालू की थी। आज जब बेरोज़गारी अपने चरम पर है तो एक बहुत बड़ी आबादी बेरोज़गार होकर मनरेगा में रोज़गार पाने के लिए मशक़्क़त करती रहती है कि उन्हें मनरेगा में तो काम देर-सवेर थोड़ा बहुत मिल जाता है।

अगर हम बात करें हरियाणा के कैथल ज़िले की कलायत तहसील की तो यहाँ पर भी मनरेगा का जो काम है वह सभी मज़दूरों को नहीं मिलता। असल में सरकारी दावों की बात करें तो मनरेगा क़ानून 2005 कहता है कि इसका मक़सद है ग्रामीण क्षेत्रों में छिपी बेरोज़गारी को कम करना। यानी इस क़ानून के तहत 1 वर्ष में एक परिवार के वयस्क सदस्यों को 100 दिन के रोज़गार की गारण्टी दी जायेगी। रोज़गार के पंजीकरण के 15 दिन के भीतर काम देने और काम ना देने की सूरत में बेरोज़गारी भत्ता देने की बात कही गयी है। मनरेगा के तहत न्यूनतम मज़दूरी भी अलग-अलग राज्यों के हिसाब से तय की गयी। हरियाणा में अभी फ़िलहाल 315 रुपये दिहाड़ी तय की गयी है। लेकिन इसके तहत काम मिलता ही काफ़ी कम दिन है। वहीं हम बजट की बात करें तो वित्त वर्ष 2021-22 के बजट में निर्मला सीतारमण ने मनरेगा के लिए 73,000 करोड़ रुपये का प्रावधान किया है। यदि इसकी तुलना बीते वित्त वर्ष के संशोधित बजट के आबण्टन 1,11,500 करोड़ रुपये से की जाये तो यह क़रीब 34.52 फ़ीसदी कम है। बजट कम होने का सीधा मतलब श्रम दिवस के कम होने और रोज़गार के अवसरों में कमी से भी है। साथ ही इस बजट का एक बड़ा हिस्सा भी अफ़सरशाही की जेब में चला जाता है।

हमने क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन के बैनर तले 10 साल से गाँव में बन्द पड़े काम की फिर से शुरुआत की थी। काम तो साल में 25 से 30 दिन ही मिला मगर इस दौरान हमने मनरेगा में हो रहे भ्रष्टाचार को भी काफ़ी नज़दीक से देखा; मनरेगा ऑफ़िस के अधिकारियों की कुछ गाँव विशेष के मेटों के साथ साँठ-गाँठ हो जाती है और फिर मनरेगा का ज़्यादातर काम उन गाँवों को मिलना शुरू हो जाता है जिनके मेटों के साथ उनका गठजोड़ बनता है। मनरेगा में जो आबादी काम करती है उसके नाम के साथ-साथ ऐसे नाम भी वर्करों की लिस्ट में शामिल किये जाते हैं जो मनरेगा में काम करने नहीं आते। उनका सिर्फ़ काग़ज़ों में नाम चलता है और जो पैसा आता है उसका बड़ा हिस्सा अधिकारियों तथा थोड़ा-बहुत हिस्सा उन फ़र्ज़ी मज़दूरों की जेब में चला जाता है और यह सिलसिला जारी रहता है। एक ओर मज़दूर काम के लिए मनरेगा विभाग के चक्कर लगाते रहते हैं और दूसरी ओर मनरेगा का जो बजट मज़दूरों के लिए तय हुआ है वह अधिकारियों की जेबों में जाता रहता है। इस भ्रष्टाचार के ऊपर रोक लगाना वैसे तो किसी एक आदमी के बस की बात नहीं मगर इसको रोकने के लिए क्रान्तिकारी मनरेगा मज़दूर यूनियन के साथी लगातार गाँव-गाँव में मनरेगा मज़दूरों की कमेटियों का गठन कर रहे हैं और इन कमेटियों में जो मज़दूर शामिल हैं उनको मनरेगा विभाग से जुड़े हुए काग़ज़ी काम भी सिखाये जाते हैं जैसे डिमाण्ड भरना, मस्टररोल भरना, यह पता करना कि कितने लोगों का काम आया है, कितने लोग काम पर जाते हैं, किसी की फ़र्ज़ी हाज़िरी तो नहीं भरी जा रही, आदि। इन सभी कामों के लिए प्रशिक्षित करने का काम भी किया जाता है और जो भी काग़ज़ी काम होता है उसको व्हाट्सएप के माध्यम से हर मज़दूर के सम्पर्क में लेकर आने का काम भी किया जाता है। ऐसा करने से मज़दूरों में आत्मविश्वास बढ़ता है और साथ ही साथ हर मज़दूर काम के प्रति निगरानी और ज़िम्मेदारी को भी समझना शुरू कर देता है।

यूनियन के अन्दर जनवाद की बहाली के लिए सभी फ़ैसले सामूहिकता में लिये जाते हैं और मेट का चुनाव भी मज़दूरों के बीच में से ही ख़ुद मजदूर करते हैं। साथ ही मनरेगा मज़दूरों की यूनियन पाठशाला भी हर हफ़्ते चलायी जाती है जिसमें मज़दूरों को सिर्फ़ आर्थिक माँगों पर न गोलबन्द करते हुए बल्कि उन्हें समाज परिवर्तन की समूचे मज़दूर वर्ग की लम्बी लड़ाई के लिए भी राजनीतिक तौर पर शिक्षित-प्रशिक्षित किया जाता है। मज़दूर वर्ग के नेता लेनिन ने ट्रेड यूनियन को मज़दूरों की पहली पाठशाला कहा है। उनका मतलब यही था कि अगर कोई यूनियन मज़दूरों की असल लड़ाई को लड़ रही है तो वह मज़दूरों की आर्थिक माँगों को लेकर लड़ने के साथ-साथ उनके राजनीतिक स्तरोन्नयन का काम भी करेगी। मज़दूरों की असल यूनियन वही होती है जो मज़दूरों में उनकी आर्थिक माँगों से राजनीतिक माँगों की तरफ़ बढ़ने की समझ और साहस पैदा करती है। हम सभी जानते हैं कि हमारे देश में जाति व धर्म की कितनी गहरी जड़ें हैं। मज़दूरों की असल लड़ाई लड़ने वाली यूनियन इन जाति-धर्म की दीवारों पर चोट करने के साथ-साथ मज़दूरों में वर्ग एकजुटता पैदा करने का काम करेगी ताकि हर जाति-धर्म से आने वाले मज़दूरों में सर्वहारा चेतना पैदा की जा सके।

बाढ़, बेशर्म सरकार और संवेदनहीन प्रशासन का क़हर झेलती जनता

– अविनाश

जैसे-जैसे मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था 'विकास' की नयी ऊँचाइयों पर पहुँच रही है, उसी अनुपात में जनता के जीवन में चलने वाली 'विनाशलीला' और ज़्यादा भयंकर रूप लेती जा रही है। इस विनाशलीला का एक दृश्य अगस्त के महीने में इलाहाबाद शहर में गंगा-यमुना के इलाक़े में आयी बाढ़ के रूप में सामने आया। गंगा और यमुना जैसी दो बड़ी नदियों और कई छोटी नदियों का शहर होने के चलते इस बाढ़ का क़हर जब टूटता है, तो इलाहाबाद की बहुत बड़ी आबादी उसका शिकार होती है। इस बार भी गंगा और यमुना के तटवर्ती इलाक़े, ससुर खदेरी और टौंस नदी के किनारे रहने वाली आबादी इस क़हर का शिकार बनी। बड़े पैमाने पर लोगों के काम-धन्धे का नुक़सान हुआ और बहुत से लोग विस्थापित हुए।

पूरा प्रशासन इस दौरान मूकदर्शक बना हुआ बाढ़ के गुज़र जाने का इन्तज़ार करता रहा। नेता-मंत्री हेलीकॉप्टर से गश्त लगाते रहे और अधिकारी नाव से गश्त लगाते रहे। प्रशासन की संवेदनहीनता इसी से समझी जा सकती है कि कई दिन पहले से ही बाँध का पानी छोड़े जाने की सूचना मिल जाने के बावजूद प्रशासन ने यह घोषणा तक नहीं करवायी कि नदी का जलस्तर कितना बढ़ सकता है और लोगों को सुरक्षित स्थान पर चले जाना चाहिए। बहुत से लोग पिछले कुछ वर्षों के अनुभव के आधार पर इन्तज़ार करते रहे और जब पानी तेज़ी से बढ़ना शुरू हुआ तो उसी समय तेज़ बरसात की वजह से बहुत से लोग अपने घर का सामान तक ठीक से नहीं निकाल पाये। पानी घुसने के दो-तीन दिन बाद तक कई इलाक़ों में नाव नहीं पहुँची थी। जो बाढ़ राहत शिविर बनाये गये, वे अपने-आप में कुव्यवस्था की मिसाल बने हुए थे।

बाँधों से अचानक पानी छोड़े जाने की वजह से इलाहाबाद शहर के तटवर्ती इलाक़ों जैसे छोटा बघाड़ा, सलोरी, दारागंज, राजापुर, अशोक नगर आदि तथा गंगा के किनारे बसे इलाक़ों और करेली की गड्ढा कॉलोनी, करामत की चौकी, जेके आशियाना, करेला बाग़ जैसे यमुना के किनारे बसे इलाक़े जलमग्न हो गये थे। जहाँ से हज़ारों लोगों को अपने घर से विस्थापित होकर राहत शिविरों में गुज़र-बसर करना पड़ा। बहुत से लोगों को राहत शिविरों में इसलिए जगह नहीं मिली क्योंकि वे अपना सामान राहत शिविर में नहीं ले जा पाये थे। हर साल राहत शिविर के नाम पर इलाहाबाद प्रशासन और नगर निगम द्वारा लाखों का वारा-न्यारा कर दिया जाता है लेकिन ज़िले में बाढ़ प्रभावित आबादी की तुलना में राहत शिविरों की संख्या ऊँट के मुँह में जीरे के बराबर भी नहीं थी। जो राहत शिविर थे भी उनमें भी न टॉयलेट था, न नहाने की व्यवस्था, न ही सफ़ाई का कोई इन्तज़ाम और ठीक से खाने की व्यवस्था। राहत शिविरों में भयंकर गन्दगी फैली हुई थी, जो बड़े पैमाने पर इन शिविरों में बीमारी फैलाने का कारण बन रही थी।

कई दिन बीतने और पानी उतरने के बाद अब बड़े पैमाने पर बीमारियाँ फैलनी शुरू हो गयी हैं। इलाक़े में शायद ही कोई ऐसा घर हो जहाँ कोई न कोई सर्दी, बुखार, खाँसी से पीड़ित न हो। लेकिन प्रशासन की इससे निपटने की कोई तैयारी नहीं है। कोविड-19 की दूसरी लहर के बाद शहर के अस्पतालों में ओपीडी का संचालन अभी सुचारु ढंग से नहीं हो रहा है, जिसकी वजह से बड़ी आबादी जो प्राइवेट अस्पतालों की फ़ीस नहीं दे सकती है, झोलाछाप डॉक्टरों, फ़ार्मासिस्टों से इलाज कराने को मजबूर है।

हर साल आने वाली बाढ़ के भयंकर विभीषिका में तब्दील हो जाने की वजह प्राकृतिक नहीं बल्कि पूँजीपतियों के मुनाफ़े की हवस है। असमान विकास पूँजीवादी व्यवस्था का आम नियम है। जिसकी वजह से देश के बहुत बड़े हिस्से में तबाही का साम्राज्य होता है और कुछ इलाक़े ऐश्वर्य के टापू बन जाते हैं। इस असमान विकास की वजह से बहुत बड़ी आबादी गाँवों से शहरों की तरफ़ विस्थापित होती है। यह विस्थापन आम मेहनतकश आबादी के लिए किसी त्रासदी से कम नहीं होता है लेकिन यही असमान विकास दूसरी ओर कुछ धनपशुओं के लिए मुनाफ़ा बटोरने का अवसर मुहैया कराता है।

इलाहाबाद शहर की बात करें तो गंगा और यमुना के किनारे बसे इस शहर में प्रशासन की गठजोड़ से भूमाफ़िया कछार की ज़मीन पर क़ब्ज़ा जमा लेते हैं। एक तरफ़ ये इस ज़मीन पर धड़ल्ले से अवैध निर्माण कराते हैं तो दूसरी ओर प्रशासनिक तंत्र में अपनी पकड़ का इस्तेमाल कर ये लोग कछार की ज़मीन को, गाँवों से शहरों की तरफ़ आने वाली आबादी को अपेक्षाकृत कम क़ीमत पर बेच देते हैं। इलाहाबाद शहर प्रतियोगी छात्रों का गढ़ है आस-पास के इलाक़ों से लाखों छात्र पढ़ाई करने और प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी करने के लिए इलाहाबाद आते हैं। कछार के इन इलाक़ों में शहर की तुलना में कमरे का किराया कम होने की वजह से बहुत से छात्र यहीं कमरा लेते हैं। यह भी एक बड़ी वजह है कि शहर के अमीरों के लिए ये इलाक़े निवेश का एक केन्द्र बन गये हैं। गंगा और यमुना नदियों के किनारे सैकड़ों लॉज बने हुए हैं। इन लॉजों में हज़ारों छात्र रहते हैं। हर साल बाढ़ आने पर ये छात्र पढ़ाई-लिखाई छोड़कर घर चले जाते हैं लेकिन इनका किराया साल-दर-साल बढ़ता जाता है। प्रशासन को भी ये सारे गड़बड़ घोटाले अच्छी तरह से मालूम हैं लेकिन सत्ता प्रशासन और भूमाफ़ियाओं के गठजोड़ से ये काम धड़ल्ले से चल रहा है। इसलिए इलाहाबाद में बाढ़ की सबसे ज़्यादा मार आम मेहनतकश आबादी और छात्रों पर पड़ती है।

वास्तव में उत्तर प्रदेश, बिहार, असम, केरल समेत पूरे देश में बाढ़ की समस्या के इतनी बड़ी विभीषिका बन जाने की असली वजह यह मौजूदा मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था है। जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई से मिट्टी बहकर नदियों की तलहटी में जमा होने, नदियों के किनारे बेरोकटोक होने वाले निर्माण-कार्यों, गाद इकट्ठा होने से नदियों के उथला होते जाने, बरसाती पानी की निकासी के कुदरती रास्तों के बन्द होने, शहरी नालों आदि को पाट देने जैसे अनेक कारणों ने न केवल बाढ़ की बारम्बारता बढ़ा दी है, बल्कि होने वाली तबाही को पहले से कई गुना बढ़ा दिया है। आज़ादी के इन 74 वर्षों में आपदा प्रबन्धन के नाम पर अरबों-खरबों का वारा-न्यारा किया जा चुका है लेकिन स्थिति सुधरने की जगह साल-दर-साल बद से बदतर होती जा रही है। सुपर कम्प्यूटर, रडार, उपग्रहों आदि से लैस तकनीक के ज़माने में बाढ़ आने से काफ़ी पहले ही इसका सही-सही पूर्वानुमान लगाया जा सकता है और साथ ही साथ 'फ़्लड रूटिंग' का पूरा विज्ञान विकसित हो चुका है जिसके ज़रिए बाढ़ के फैलाव को काफ़ी हद तक नियंत्रित किया जा सकता है। लेकिन मुनाफ़ा-आधारित व्यवस्था में विज्ञान भी मुनाफ़े की भेंट चढ़ जाता है और कुछ मुट्ठीभर धनपशुओं के लिए मुनाफ़ा पैदा करने का औज़ार मात्र रह जाता है। टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल अगर मानवता के हित में किया जाये तो इन आपदाओं में होने वाले जान-माल के नुक़सान को काफ़ी हद तक कम किया जा सकता है। लेकिन होता इसका उल्टा है। हर बार बाढ़ आने का इन्तज़ार किया जाता है। हर बार लोग मारे जाते है, लाखों परिवार बेघर होते हैं, हज़ारों एकड़ फ़सल की बर्बादी होती है और हर बार आपदा प्रबन्धन के नाम पर अरबों की राशि का बन्दरबाँट होता है। चुनावी घड़ियाल इस आपदा पर सवार होकर अपनी चुनाव की वैतरणी पार करने की जुगत में लग जाते हैं, साम्राज्यवादी संस्थाओं के टुकड़ों पर पलने वाले स्वयंसेवी संगठनों को "जनसेवा" के बहाने सच्चाई पर पर्दा डालने का और इसी बहाने अपनी सेवा भी कर लेने का मौक़ा मिल जाता है। और फिर अगली बार का इन्तज़ार किया जाता है। इस तरह आज़ादी के इन सात दशकों में आपदाओं का भी अपना अर्थशास्त्र और अपनी राजनीति विकसित हुई है।

बाढ़ रोकने के मक़सद से 1954 में गठित गंगा आयोग ने जलकुण्डी परियोजना का सुझाव दिया था जिसके तहत नेपाल की नदियों से आने वाली सिल्ट को रोकने के लिए पानी की भारी मात्रा को नेपाल में रोककर बाँधों पर जल विद्युत परियोजना लगाने की योजना थी। इन परियोजनाओं का आधा लाभ नेपाल और आधा लाभ भारत को मिलना था। लेकिन सरकार की उदासीनता की वजह से यह योजना धरी की धरी रह गयी। 1976 में गठित राष्ट्रीय बाढ़ आयोग ने नदियों के तल से गाद हटाने का सुझाव दिया था और साथ ही जलकुण्डी योजना को लागू करने का भी सुझाव दिया था। इसमें से कुछ भी नहीं किया गया। आगे भी इस तरह के आयोग बनते रहेंगे। लेकिन कुछ नहीं होगा। क्योंकि यह पूरी व्यवस्था मानवीय ज़रूरतों नहीं बल्कि मुट्ठी भर पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए काम करती है। ऐसी आपदाओं को रोकना तो दूर, ऐसी आपदाओं के बाद इन्सानों की लाशों पर अपने मुनाफ़े की रोटियाँ सेंकना इस व्यवस्था का काम है। इसलिए पूँजीवादी व्यवस्था के रहते इस प्रकार की आपदाओं से निजात मिलना असम्भव है। बल्कि हर गुज़रते दिन के साथ अपनी स्वाभाविक गति से यह व्यवस्था बहुत-सी आपदाओं को पैदा करती रहेगी। वर्ग विभाजित समाज में हर आपदा मेहनतकशों की बर्बादी का कारण बनती है और पूँजीपति इन आपदाओं से भी अपने मुनाफ़े की हवस को पूरा करते हैं। जब तक मानवता इस लूट पर टिकी व्यवस्था से निजात नहीं पायेगी, तब तक बाढ़ की विभीषिका से भी निजात नहीं मिलने वाली।

निर्माण मज़दूर की करण्ट लगने से मौत : मुआवज़े की माँग करने वालों को पुलिस ने भेजा जेल

– सुमित

नोएडा, ग्रेटर नोएडा वेस्ट में एटीएस बिल्डर की निर्माणाधीन बिल्डिंग में काम कर रहे एक मज़दूर की बिजली का करण्ट लगने के कारण मौत हो गयी। जिसके बाद मज़दूरों ने मृतक मज़दूर साथी के परिवार को आर्थिक मदद देने की माँग की। इनमें से अगुआ मज़दूरों को तोड़फोड़ करने का आरोप लगाकर जेल भेज दिया गया। ज़ाहिर है, पुलिस प्रशासन पूरी तरह से बिल्डर की जेब में है क्योंकि मज़दूरों ने कुछ भी नाजायज़ नहीं माँगा था।

मृतक मज़दूर तरुण वासु पश्चिम बंगाल के मालदा का रहने वाला था। उसकी उम्र मात्र 19 वर्ष की थी। अभी 2 माह पहले वह पश्चिम बंगाल से नोएडा आया था। यहाँ पर पहले से काम कर रहे मालदा के मज़दूरों के साथ एटीएस में काम कर रहा था। तरुण के साथ काम करने वाले दूसरे मज़दूरों ने बताया कि रोज़ाना की तरह 9 अगस्त को हम सब काम कर रहे थे। शाम के लगभग 4 बजे तरुण जब एक मशीन का तार समेट रहा था तो वह बिजली का करण्ट लगने के कारण गिर गया, दूसरे मज़दूरों ने बिजली के तार को हटाया व तरुण को देखा तथा इसकी ख़बर सेफ़्टी ऑफ़िसर को दी। मज़दूर को पास के अस्पताल आरोग्य हॉस्पिटल ले जाया गया, जहाँ पर डॉक्टरों ने मज़दूर तरुण को मृत घोषित कर दिया।

मालदा के मज़दूरों के मुंशी अनूप मण्डल जो ख़ुद मालदा पश्चिम बंगाल का रहने वाला है, ने बताया कि डॉक्टरों ने उसे बताया कि तरुण की मौत हो चुकी है तो उसने इस घटना के बारे में उसके परिवार को सूचित किया। उसके बाद पुलिस मृतक मज़दूर का शव पोस्टमार्टम के लिये ले गयी।

अनूप मण्डल ने बताया कि अगले दिन 10 अगस्त को एटीएस मैनेजमेण्ट ने मृतक तरुण के परिवार को 4.50 लाख का चेक, 50 हज़ार कैश व मृतक के शव को उसके घर पश्चिम बंगाल ले जाने के लिए एम्बुलेंस की व्यवस्था की और पोस्टमार्टम के बाद वे लोग अपने घर मालदा पश्चिम बंगाल लौट गये।

मृतक मज़दूर तरुण के साथ काम करने वाले मालदा के एक मज़दूर चन्दन ने बताया कि अगले दिन 10 अगस्त को मज़दूरों ने कम्पनी मैनेजमेण्ट से पूछा कि मृतक मज़दूर का शव कब तक आयेगा, तो बताया गया कि 11 बजे पोस्टमार्टम होगा उसके बाद पता चलेगा। मज़दूरों ने माँग की कि मृतक मज़दूर के मृत शरीर को यहाँ पर लाया जाये तथा उसके परिवार को 15 लाख की आर्थिक मदद दी जाये। मज़दूर शाम तक बैठे रहे। पुलिस की जीप आने पर 5 बजे के बाद कम्पनी की तरफ़ से बताया गया कि मृतक के परिवार की सभी माँगों को पूरा कर मृतक की बॉडी को उसके परिवार के साथ पश्चिम बंगाल भेज दिया गया है। मज़दूर समझ गये कि उन्हें झाँसा दिया जा रहा है ताकि वहाँ से वापस भेजा जा सके। इससे मज़दूर आक्रोशित हो गये और एटीएस के ऑफ़िस में घुस गये व उन्होंने पुलिस को भी खदेड़ दिया। इसके बाद रात में 12 बजे पुलिस बड़ी संख्या में आयी और मज़दूरों की झुग्गियों में ज़बरन घुस कर मज़दूरों को बहुत मारा-पीटा व बहुत से मज़दूरों को उठा कर ले गयी। जिनमें से 25-30 को जेल भेज दिया, जेल जाने वालों में बहुत से ऐसे मज़दूर हैं जो घटना के समय वहाँ पर उपस्थित भी नहीं थे।

इस घटना के बाद से बहुत से मज़दूर वापस अपने घर लौट गये हैं, जो मज़दूर अभी वहाँ पर हैं उनको भी काम पर नहीं लिया जा रहा है। इसके बारे में पूछने पर एटीएस मैनेजमेण्ट ने बताया कि मज़दूरों का वेरिफ़िकेशन किया जा रहा है इसलिए अभी काम रोक दिया गया है; जिन मज़दूरों का वेरिफ़िकेशन हो जायेगा उनको काम पर रख लिया जायेगा।

यह ऐसी अकेली घटना नहीं है जब काम के वक़्त होने वाले हादसों में मज़दूरों की मौत होती है। हमारे ये भाई-बहन मालिकों, कम्पनियों, ठेकेदारों के मुनाफ़े की भेंट सिर्फ़ इसलिए चढ़ जाते हैं क्योंकि कार्यस्थल पर उनकी सुरक्षा के उचित इन्तज़ाम नहीं किये जाते हैं। उसके बाद, जब मालिकों की मुनाफ़ाख़ोरी के कारण की गयी इस लापरवाही की भेंट मज़दूर चढ़ जाते हैं, तो उन्हें उचित क़ानूनी मुआवज़ा भी नहीं दिया जाता। और अगर मज़दूर अपने मृत साथी के लिए इन्साफ़ की माँग करते हैं, तो पूँजीपतियों की जेब में बैठी पुलिस उन्हें मारती-पीटती है और उन्हें जेलों में डाल दिया जाता है। लेकिन मालिक पर कोई कार्रवाई नहीं होती। वैसे भी ऐसी दुर्घटनाओं के लिए बस मुआवज़े की व्यवस्था है। क़ानूनी तौर पर भी मालिक को इस प्रकार की जानलेवा लापरवाही के लिए कभी जेल नहीं भेजा जाता। क्या एक मज़दूर की जान को केवल रुपयों में तौला जा सकता है? लेकिन यदि मज़दूर अपनी जायज़ माँगों को उठाते हैं, तो उनपर लाठियाँ बरसायी जाती हैं और उन्हें सलाखों के पीछे धकेल दिया जाता है। नोएडा की इस घटना ने एक बार फिर मौजूदा मुनाफ़ाख़ोर और कफ़नखसोट पूँजीवादी व्यवस्था की कलई खोल दी है। जब तक हम एकजुट और संगठित नहीं होते, तब तक हमारे साथ ऐसा ही सुलूक होता रहेगा।

नहीं रहे कॉमरेड रामनाथ! अलविदा कॉमरेड! लाल सलाम!!

कॉमरेड रामनाथ नहीं रहे। 31 अगस्त को तड़के ही सोते समय दिल का दौरा पड़ने से उनका निधन हो गया।

कॉमरेड रामनाथ की आयु लगभग 83 वर्ष की थी। अस्वस्थ तो वे विगत कई वर्षों से थे लेकिन पिछले कुछ समय से उनका स्वास्थ्य बहुत ख़राब हो गया था।

भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन का इतिहास का. रामनाथ की भूमिका और अवदानों की चर्चा के बग़ैर लिखा ही नहीं जा सकता। निस्सन्देह उनकी भूमिका ऐतिहासिक थी और 'पाथब्रेकिंग' थी।

बलिया ज़िले के गंगा तटवर्ती एक गाँव के भूस्वामी परिवार में पैदा हुए का. रामनाथ, राहुल सांकृत्यायन के प्रभाव में किशोरावस्था में ही मार्क्सवादी बन चुके थे और बीहड़ यायावरी तथा दर्शन, इतिहास, कला-साहित्य और राजनीति के घनघोर अध्ययन को अपनी आदत बना चुके थे। 1960 के दशक के उथल-पुथल भरे वर्षों में कोलकाता उनकी अध्ययनशाला, क्रान्तिकारी प्रशिक्षणशाला और प्रयोगशाला बना जहाँ वे क़ानून का अध्ययन कर रहे थे। उनकी राजनीतिक जीवन-यात्रा अविभाजित कम्युनिस्ट पार्टी से शुरू हुई, फिर माकपा से होते हुए कन्हाई चटर्जी के नेतृत्व वाले कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी ग्रुप 'चिन्ता ग्रुप' तक पहुँची जिसने बाद में अपने को 'दक्षिण देश ग्रुप' और फिर 'माओवादी कम्युनिस्ट केन्द्र' के रूप में संगठित किया। 1969 में भाकपा (माले) की स्थापना की घोषणा के बाद (1970 में हुई पार्टी कांग्रेस के पहले ही) का. रामनाथ भाकपा (माले) में शामिल हो गये और उत्तर प्रदेश और बिहार के गंगा तटवर्ती ज़िलों गाज़ीपुर, बलिया, आरा-भोजपुर के ग्रामीण इलाक़ों में आकर काम करने लगे।

चारु मजूमदार के निधन के बाद पार्टी के पुनर्गठन के प्रयासों में का. रामनाथ ने एक अग्रणी भूमिका निभायी और मुख्यत: उन्हीं के प्रयासों से फ़रवरी 1974 में केन्द्रीय सांगठनिक कमेटी (सी.ओ.सी.) भाकपा (माले) का गठन सम्भव हो सका, जिसकी नेतृत्वकारी कमेटी में जगजीत सिंह सोहल, सुनीति कुमार घोष, कोण्डापल्ली सीतारमैय्या

और शामलाल (चोपड़ा) के साथ का. रामनाथ भी शामिल थे। सी.ओ.सी. भाकपा (माले) में काम करते हुए ही का. रामनाथ ने चारु की "वाम" दुस्साहसवादी लाइन के ख़िलाफ़ दृढ़ और सुसंगत स्टैण्ड लिया जो संगठन में गम्भीर मतभेद का विषय बना। "वाम" दुस्साहसवाद के विरुद्ध समझौताविहीन और सुसंगत संघर्ष चलाने वाले ग्रुपों और व्यक्तियों में नागीरेड्डी-डी. वी. राव और हरभजन सिंह सोही के बाद का. रामनाथ का ही नाम अग्रणी माना जा सकता है। सी.ओ.सी. काल के दौरान का. रामनाथ ने विशेषकर आपातकाल के अनुभवों के आधार पर भारतीय पूँजीपति वर्ग और राज्यसत्ता के चरित्र पर सवाल उठाना शुरू कर दिया था और देहाती क्षेत्र में ज़मीनी कामों के अनुभवों के आधार पर भूमि-सम्बन्धों के सामन्ती चरित्र की स्थापित धारणा पर भी सोचने लगे थे।

सी.ओ.सी. के विघटन के बाद मार्च 1978 में जब का. रामनाथ के नेतृत्व में भारत की कम्युनिस्ट लीग (मार्क्सवादी-लेनिनवादी) का गठन हुआ, तो तमाम सांगठनिक संकटों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद का. रामनाथ के मार्गदर्शन और नेतृत्व में भारतीय समाज की प्रकृति और क्रान्ति के कार्यक्रम के सवाल पर गहन शोध-अध्ययन के बाद भाकली (माले) ने 1982 में यह निष्कर्ष निकाला कि भारतीय समाज चीन की तरह अर्द्धसामन्ती-अर्द्धऔपनिवेशिक या नवऔपनिवेशिक न होकर एक पिछड़ा हुआ पूँजीवादी समाज है, यहाँ का पूँजीपति वर्ग दलाल न होकर राजनीतिक रूप से स्वतंत्र और साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार है, कतिपय प्राक्-पूँजीवादी अवशेषों के बावजूद यहाँ के भूमि-सम्बन्ध 'प्रशियाई मार्ग' के भारतीय संस्करण के ज़रिए क्रमिक रूपान्तरण के बाद मूलत: और मुख्यत: पूँजीवादी बन चुके हैं और इसलिए भारतीय क्रान्ति की मंज़िल अब राष्ट्रीय जनवादी नहीं बल्कि पूँजीवाद-विरोधी साम्राज्यवाद-विरोधी समाजवादी क्रान्ति की मंज़िल है। 1983 में इस थीसिस के दस्तावेज़ रूप में प्रकाशन के बाद पूरे देश के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी संगठनों से एक लम्बी बहस की शुरुआत हुई और जिस सवाल को हल हुआ माना जा रहा था, वह अध्ययन और राजनीतिक बहस का एक केन्द्रीय प्रश्न बन गया। आगे चलकर कई संगठनों ने समाजवादी क्रान्ति की अवस्थिति अपनायी।

1986 में का. रामनाथ के ही मार्गदर्शन और नेतृत्व में द्वितीय विश्वयुद्धोत्तर कालीन वैश्विक बदलावों और समकालीन दुनिया के साम्राज्यवादी समीकरणों में बदलावों पर भी शोध-अध्ययन की शुरुआत हुई जो 1987 में एक वृहद दस्तावेज़ के रूप में प्रकाशित हुआ। इस शोध-अध्ययन का उद्देश्य नयी विश्व परिस्थितियों में विश्व सर्वहारा क्रान्ति की आम राजनीतिक कार्यदिशा की समझ विकसित करने की दिशा में आगे क़दम बढ़ाना था। दुर्भाग्यवश, यह प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ सकी। लेकिन इस गम्भीर पहल की ऐतिहासिक महत्ता को कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास का कोई गम्भीर अध्येता क़तई ख़ारिज नहीं कर सकता।

उल्लेखनीय है कि इस पूरे दौर में का. रामनाथ ने दक्षिणपन्थी और "वामपन्थी" अवसरवाद के दोनों छोरों के विरुद्ध दृढ़ और सुसंगत अवस्थिति अपनायी। विनोद मिश्र के "सतरंगा समाजवाद" की सर्वाधिक विस्तृत और सांगोपांग आलोचना भाकली (माले) ने ही पहली बार का. रामनाथ के दिशा-निर्देश पर 1988 में प्रस्तुत की थी।

मुख्यत: भारतीय क्रान्ति के कार्यक्रम के प्रश्न पर अपने ऐतिहासिक और पथान्वेषी अवदान के बावजूद का. रामनाथ एक लेनिनवादी सांगठनिक कार्यदिशा को गहरे अहसास के साथ समझने और पार्टी-निर्माण और कार्यप्रणाली के स्तर पर लागू कर पाने में विफल रहे, जिसके चलते महत्वपूर्ण उपलब्धियों और उल्लेखनीय प्रगति के बाद भाकली (माले) 1980 के दशक के अन्तिम वर्षों में गतिरोध और विघटन का शिकार हो गयी। इस संकट के बुनियादी कारणों की शिनाख़्त नहीं कर पाने के कारण 1991 के बाद सांगठनिक पुनर्गठन के का. रामनाथ के सभी प्रयास विफल होते गये और उनके साथ खड़े कई एक लोग और उनसे छिटकने वाले कई एक ग्रुप या तो बहुरंगी ग़ैर-बोल्शेविक सामाजिक-जनवादी पंककुण्ड में धँसते चले गये या विसर्जित होते चले गये। इन वर्षों के दौरान स्वयं का. रामनाथ भी अपने सैद्धान्तिक कामों को आगे नहीं बढ़ा सके। यहाँ तक कि भारतीय समाज के बुनियादी अन्तरविरोधों के बारे में भी वे अपनी पूर्व अवस्थिति से विचलित होकर कुछ अन्तरविरोधी बातें करने लगे थे और भूमण्डलीकरण के दौर को भी पुराने साँचे (नवऔपनिवेशीकरण) में ही फ़िट करके देखने की कोशिश करते रहे।

लेकिन का. रामनाथ के लम्बे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी जीवन के अन्तिम चरण की इन विफलताओं और इन गतिरोधों के बावजूद भारत के कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन के इतिहास में उनकी ऐतिहासिक सकारात्मक और साहसिक पथान्वेषी भूमिका से कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। सबसे अहम बात यह है कि अपनी अन्तिम साँस तक का. रामनाथ एक कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी बने रहे और मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन, स्तालिन, माओ के शिष्य के रूप में ही ख़ुद को देखते रहे। का. रामनाथ ने समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का जो पथसन्धान किया था और इस परचम को उठाकर जो यात्रा शुरू की थी, वह यात्रा आज भी जारी है और आगे भी जारी रहेगी, चाहे परिस्थितियाँ कितनी भी प्रतिकूल हों। आज माओवाद की विचारधारा और नयी समाजवादी क्रान्ति के कार्यक्रम को आगे बढ़ाते हुए कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी आन्दोलन की जो धारा आज के साम्राज्यवाद का और भारतीय क्रान्ति के विविध प्रश्नों का अध्ययन करते हुए सामाजिक प्रयोगों में क्रान्तिकारी जनदिशा को लागू कर रही है, वह अपने को गर्व से का. रामनाथ का उत्तराधिकारी मानती है।

हम का. रामनाथ को हमेशा बहुत प्यार और लगाव के साथ याद करते रहेंगे। हम उन्हें कभी नहीं भुला सकते। भारत के सभी सच्चे कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी उन्हें कभी नहीं भुला सकते।

हम भरे दिल से, तनी मुट्ठियों के साथ का. रामनाथ को आख़िरी लाल सलाम पेश करते हैं और संकल्प लेते हैं कि जिस कारवां ने 1978 में उनके नेतृत्व में एक बीहड़ यात्रा की शुरुआत की थी, वह उसे जारी रखेगा। पुराने क्रान्ति-योद्धाओं के रिक्त स्थानों को कई-कई युवा क्रान्ति-योद्धा भरते रहेंगे और कारवां चलता रहेगा...बढ़ता रहेगा...

अलविदा का. रामनाथ!
लाल सलाम! लाल सलाम!!

मुफ़्त पानी और बिजली से वंचित दिल्ली की बहुसंख्यक मज़दूर आबादी

दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविन्द केजरीवाल पिछले दिनों कभी गोआ, कभी पंजाब तो कभी उत्तराखण्ड जाकर प्रचार कर रहे हैं कि अगर हमारी 'आम आदमी पार्टी' की सरकार बनी तो 300 यूनिट तक बिजली सभी लोगों को मुफ़्त दी जायेगी। भाजपा और संघ परिवार का कच्छा पहन चुके केजरीवाल दावा करते हैं कि दिल्ली में लगभग 70 फ़ीसदी लोगों का बिजली का बिल ज़ीरो आता है और दिल्ली की 93 फ़ीसदी कॉलोनियों में पानी की लाइन बिछा दी गयी है और इन सभी इलाक़ों में अधिकतर लोगों को पीने का पानी मुफ़्त मिल रहा है। केजरीवाल का दावा है कि दिल्ली की बहुसंख्यक आबादी को उनकी सरकार बनने के बाद से बिजली और पानी मुफ़्त मिलता है।

केजरीवाल के इन दावों को सुनकर यह तो साफ़ है कि अपने बड़े भाई मोदी की तरह जुमलेबाज़ी और झूठे दावे करने में केजरीवाल भी कम नहीं है। असलियत यह है कि दिल्ली की मज़दूर व किरायेदार आबादी के लिए मुफ़्त पानी और बिजली आज भी एक हवाई बात है। दिल्ली की बहुसंख्यक मज़दूर/किरायेदार आबादी को न साफ़ पीने का पानी मुफ़्त में मिलता है और न ही उसके लिए बिजली मुफ़्त है। ख़ासकर दिल्ली की आम मेहनतकश आबादी के करावलनगर, खजूरी, सोनिया विहार, मुस्तफ़ाबाद, सीलमपुर और बवाना, वज़ीरपुर, शाहाबाद डेरी जैसे कई और इलाक़ों में बहुसंख्यक आबादी के लिए मुफ़्त बिजली-पानी की बात बस एक जुमला है। इन इलाक़ों में केजरीवाल सरकार के लगभग 8 साल होने के बाद आज भी पीने के पानी की लाइन घर-घर नहीं पहुँची है। यहाँ रहने वाली मध्यम वर्ग की कुछ आबादी तो अपने घरों में पानी साफ़ करने की आर.ओ. मशीन लगा लेती है और ज़मीन के पानी को साफ़ करके इस्तेमाल करती है। लेकिन मज़दूर और आम मेहनतकश आबादी या तो गलियों में लगे सरकारी नल से पानी लाती है, जो पूरे इलाक़े में नाममात्र ही बचे हैं और जो बचे हैं उनमें भी पानी कभी-कभी ही आता है, और जब आता भी है तो पानी आम तौर पर गन्दा होता है, पीने लायक़ नहीं होता है।

उत्तर-पूर्वी दिल्ली के श्रीराम कॉलोनी खजूरी इलाक़े में ये नलके भी नाली से सटाकर लगाये गये हैं जहाँ कूड़ा भी पड़ा रहता है। ग़रीब लोग मजबूरी में यहीं से पीने का पानी भरते हैं। कुछ इलाक़ों में सरकारी पानी के टैंकर आते हैं पर यह टैंकर भी आबादी के अनुपात में बेहद कम संख्या में आते हैं। इनसे पानी भरने के लिए 2 से 3 घण्टा लग जाता है। ये टैंकर नियमित भी नहीं आते हैं। कोरोना महामारी के शुरू होने से लेकर अब तक भी इन टैंकरों की संख्या सरकार द्वारा नहीं बढ़ायी गयी जिसके चलते टैंकर के आने पर बहुत ज़्यादा भीड़ एकत्रित हो जाती है और मजबूरी के चलते शारीरिक दूरी बन ही नहीं पाती है। ऐसे में इन इलाक़ों में कोरोना महामारी फैलने का डर ज़्यादा बना रहता है, पर केजरीवाल सरकार सब जानते हुए इसे अनदेखा करती है।

इन इलाक़ों में पानी की बोतल (20 लीटर) बेचने का व्यापार पिछले कुछ सालों में बहुत ज़्यादा बढ़ गया है। हर चौथी या पाँचवी गली में एक प्लाण्ट लगा है जहाँ से मज़दूर आबादी अपने ख़ाली बर्तन या कैन में पानी पैसा देकर भरती है या फिर पानी की बोतल ही घर

(पेज 2 पर जारी)

मेहनतकश जनता के ख़ून-पसीने से खड़ी हुई सार्वजनिक परिसम्पत्तियों को पूँजीपतियों के हवाले करने में जुटी मोदी सरकार

(पेज 1 से आगे)

देकर 6 लाख करोड़ रुपये हासिल करने का लक्ष्य रखा है। ये मंत्रालय या विभाग रेलवे, टेलीकॉम, सड़क परिवहन एवं राजमार्ग, बिजली, नागरिक उड्डयन, युवा मामले और खेल, पेट्रोलियम एवं प्राकृतिक गैस और पोर्ट्स शिपिंग एवं वाटरवेज (इसका नाम पहले जहाज़रानी मंत्रालय था) होंगे जिनसे जुड़ी सम्पत्तियों को निजी हाथों में सौंपा जायेगा। मोदी सरकार के अनुसार इन परिसम्पत्तियों का स्वामित्व सरकार के पास ही रहेगा लेकिन किराये या लीज़ पर देकर फ़िलहाल कमाई नहीं देने वाली या कम कमाई देने वाली सरकारी सम्पत्तियों से मुद्रा हासिल की जा सकेगी और इससे कमाये गये पैसे का इस्तेमाल जनता की भलाई के लिए किया जा सकेगा! सरकार को जनता की भलाई की कितनी चिन्ता है यह बात हम कोरोना महामारी के पूरे दौर के बाद तो और भी भली-भांति जान गये हैं। जब हमने अपने परिजनों, मित्रों और क़रीबियों को मौत के मुँह में समाते देखा तब यह तथाकथित जनहितकारी सरकार न केवल हाथ पर हाथ धरे बैठी थी बल्कि अपनी जनद्रोही नीतियों के द्वारा हमें भी शमशानों और क़ब्रिस्तानों में पहुँचाने का बख़ूबी इन्तज़ाम करने में लगी थी। अब समझ लेते हैं कि मोदी सरकार की राष्ट्रीय मौद्रीकरण की योजना के पीछे जनता की भलाई की चिन्ता है, या मुनाफ़े के संकट से जूझ रहे भारतीय पूँजीपति वर्ग के हितों के सरोकार हैं।

भारतीय रेलवे को अपनी परिसम्पत्तियाँ किराये पर देकर (यानी बेचकर) सरकार को 1 लाख 52 हज़ार करोड़ रुपये देने का लक्ष्य दिया गया है। इसके तहत रेलवे के 400 रेलवे स्टेशन, 90 यात्री गाड़ियाँ, 256 सामान रख-रखाव के शेड, 4 पर्वतीय रेलवे, 15 रेलवे स्टेडियम, कोंकण रेलवे ट्रैक का 741 किलोमीटर, फ्रेट कोरिडोर का 674 किलोमीटर, ट्रैक पर ओवरहेड इक्विपमेट का 1400 किलोमीटर इत्यादि को पूँजीपतियों के हाथों में सौंपा जायेगा। सीधी-सी बात है पूँजीपतियों को रेलवे के किराये और माल ढुलाई के भाड़े में बेतहाशा बढ़ोत्तरी करने की पूरी छूट मिल जायेगी। तथाकथित प्राइवेट पार्टनर जनता को दोनों हाथों से लूटेंगे और अकूत मुनाफ़ा कमायेंगे। सड़क परिवहन एवं राजमार्ग को 1 लाख 60 हज़ार करोड़ की राशि हासिल करने का लक्ष्य दिया गया है। इसके तहत 26,000 किलोमीटर से अधिक हाइवे और सड़कों के रखरखाव की ज़िम्मेदारी निजी कम्पनियों को सौंपकर उन्हें इन पर कर यानी 'टोल टैक्स' वसूलने की छूट दी जायेगी। इसके अलावा तेल-गैस पाइपलाइन, 25 हवाई अड्डे, सरकारी गेस्टहाउस, पानी के जहाज़ और पोर्ट, बीएसएनएल के 14,917 मोबाइल टावर, 2 लाख 80 हज़ार किलोमीटर लम्बी फ़ाइबर लाइन निजी कम्पनियों को "किराये पर" दी जायेगी।

अब यह सोचने वाली बात है कि जो पूँजीपति चार साल के दौरान 6 लाख करोड़ रुपये मोदी सरकार को सौंपेंगे, क्या मोदी जी के द्वारा जनता का भला करने की मंशा ज़ाहिर करने के चलते उनका हृदय परिवर्तन हो चुका है? क्या पूँजीपति ख़ैरात बाँटने के लिए उतावले हुए जा रहे हैं? नहीं! असल में रेलवे, सड़कों, तेल-गैस पाइपलाइनों और अन्य सरकारी सम्पत्तियों से पूँजीपति पहले अरबों-खरबों रुपये कमाया जाना सुनिश्चित करेंगे और उसके बाद ही वे मुनाफ़े के कुछ हिस्से को सरकार के हाथ में दे सकते हैं। और सरकार उस पैसे को फिर से पूँजीपतियों को कभी न चुकाया जाने वाला क़र्ज़ देने, नेताशाही की मोटी तनख़्वाहों, बड़े नौकरशाहों के ऐशोआराम में लुटा देगी। जिस जनता ने पेट पर पट्टी बाँधकर और फाँके करके सार्वजनिक उपक्रमों को खड़ा किया था उसे इनसे सुविधा मिलने की बजाय इनके द्वारा उसकी जेबों पर डाका डाला जायेगा। सरकार का कहना है कि सरकारी उपक्रम घाटे में चल रहे हैं और कौन पूँजीपति घाटे की चीज़ को लेना चाहेगा और वह भी मोटा पैसा ख़र्च करके? असल बात यह है कि बीपीसीएल, टेलिकॉम और रेलवे जैसे तमाम उद्यम घाटे में नहीं चल रहे हैं बल्कि सरकार इन्हें घाटे में दिखाकर बेचने के बहाने ढूँढ़ रही है। और असल बात तो यह है कि जिसे सरकार घाटा कह रही है वह असल में जनसुविधाओं में होने वाला व्यय है और पूँजीपरस्त सरकार नहीं चाहती कि जनता को एक पैसे की भी सहूलियत नसीब हो।

अब मौद्रीकरण की ज़रूरत क्यों आन पड़ी?

यह तथाकथित मौद्रीकरण कुछ और नहीं बल्कि निजीकरण का ही दूसरा नाम है। वित्तमंत्री के जुमलों में उलझने के बजाय जुमलेबाज़ प्रधानमंत्री मोदी के सत्य वचनों पर ग़ौर करना चाहिए। मोदी जी सीधे तौर पर सार्वजनिक उपक्रमों को सम्भालने में सरकार की ज़िम्मेदारी को नकार रहे हैं। सरकार का काम महज़ पूँजीपतियों को जनता को लूटने का बेहतर माहौल बनाकर देना ही है। फ़ासीवादी मोदी सरकार इस काम को सबसे आक्रामक ढंग से और तेज़ी से कर रही है। इसी के लिए तो देश भर के बड़े पूँजीपतियों ने पिछले दो लोकसभा चुनावों में हज़ारों करोड़ रुपये चन्दे में भाजपा को दिये थे और मोदी को जिताया था। असल में "मौद्रीकरण" कांग्रेस सरकार द्वारा 24 जुलाई 1991 में घोषित तौर पर लागू की गयी उदारीकरण-निजीकरण-वैश्वीकरण की नीतियों का ही अगला क़दम भर है। तथाकथित उदारीकरण-निजीकरण की शुरुआत की ज़रूरत को हम थोड़ा अतीत में झाँक कर देख व समझ सकते हैं।

अंग्रेज़ों से हमें समझौते और सत्ता हस्तान्तरण के द्वारा आज़ादी प्राप्त हुई थी। उस समय एक बड़ा समाजवादी कैम्प और दुनिया के स्तर पर समाजवादी आन्दोलन पर अपने उरूज़ पर था। भारत में भी 1946 से 1950 का दौर जनता की जनवादी क्रान्ति की सम्भावनाओं से भरा दौर था जब देश में नौसेना विद्रोह, तेलंगाना किसान विद्रोह, तेभागा किसान विद्रोह और पुनप्रा वायलार किसान विद्रोह हुए थे और उसके अलावा कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में हड़तालों की एक लहर भी जारी थी। लेकिन अपनी विचारधारात्मक व राजनीतिक कमज़ोरियों के चलते भारत के क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट इन क्रान्तिकारी जनविद्रोहों को एक देशव्यापी क्रान्तिकारी आन्दोलन का स्वरूप नहीं दे सके। उसके पहले भी कम्युनिस्ट पार्टी अपनी गम्भीर रणनीतिक और रणकौशलात्मक चूकों के कारण राष्ट्रीय आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में लेने के कई मौक़े चूक चुकी थी। भारत के पूँजीपति वर्ग और उसकी पार्टी कांग्रेस ने इसका पूरा लाभ उठाया। कांग्रेस ने समझौता-दबाव-समझौता की नीति के तहत अन्त में सत्ता हथिया ली। भारत का पूँजीपति वर्ग अपने औपनिवेशिक अतीत के कारण कमज़ोर था और उसके पास देश के स्वतंत्र पूँजीवादी विकास हेतु आवश्यक पूँजी का भी अभाव था। इसीलिए तुरन्त मुनाफ़ा देने वाले क्षेत्रों को निजी हाथों में सौंप दिया गया तथा वे क्षेत्र जिनमें पहले बड़े पैमाने के निवेश की दरकार थी, जैसे कि भारी उद्योग, अवरचनागत उद्योग व बुनियादी कुंजीभूत उद्योग, उन्हें सार्वजनिक क्षेत्र के तौर पर सरकार ने अपने हाथों में रखा। सार्वजनिक उपक्रमों को खड़ा करने के लिए पूँजी और कहीं से नहीं बल्कि करों और विभिन्न शुल्कों के रूप में जनता से ही वसूलकर और साथ ही जनता की बचत को एकत्र करके जुटायी गयी। मेहनतकश आबादी के कमरतोड़ शोषण, सरकारी अनुग्रह, आर्थिक छूटों के बूते जैसे-जैसे भारत का पूँजीपति वर्ग अपेक्षाकृत ताक़तवर होता गया वैसे-वैसे उसे तश्तरी में सजाकर औने-पौने दामों पर सरकारी उद्यम सौंपे जाने लगे। 1980 के दशक में ही राजीव गाँधी के समय से इंस्पेक्टर राज और कोटा राज को ख़त्म करने के नाम पर निजी पूँजीपतियों को छूट दी जाने लगी थी और 24 जुलाई 1991 को घोषित तौर पर उदारीकरण-निजीकरण की लुटेरी नीतियों की शुरुआत कर दी गयी।

कांग्रेस ने अपने शासनकाल में इन नीतियों को जिस रफ़्तार से लागू किया था, आज भाजपा की फ़ासीवादी मोदी सरकार उन नीतियों को कहीं ज़्यादा रफ़्तार से और ज़्यादा दमनकारी तरीक़े से लागू कर रही है। 2009-10 से ही आर्थिक संकट के कारण यह पूँजीपति वर्ग के लिए ज़रूरी भी है। इस काम को कांग्रेस के मुक़ाबले भाजपा ज़्यादा बेहतर तरीक़े से अंजाम दे सकती है और इसीलिए पूँजीपति वर्ग के बड़े हिस्से ने एकमत होकर भाजपा को सत्ता में पहुँचाने में एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया था। राष्ट्रीय मौद्रीकरण योजना वास्तव में निजीकरण-उदारीकरण की उसी प्रक्रिया का एक अंग है जो 1991 से जारी रही है और 2014 से मोदी सरकार के सत्ता में आने के बाद और भी ज़्यादा तेज़ रफ़्तार से जारी है।

मौद्रीकरण से जनता के जीवन पर क्या असर पड़ेगा और हम इसका विरोध कैसे करें?

मौद्रीकरण जैसी नीतियाँ लागू होने के बाद सबसे बड़ा हमला रोज़गार पर होगा। इन सरकारी क्षेत्रों में कार्यरत करोड़ों लोगों के अच्छे-ख़ासे हिस्से को अपने रोज़ी-रोज़गार से हाथ धोना पड़ेगा। रेलवे, सड़क परिवहन, उड्डयन और टेलिकॉम आदि में सरकारी विनिवेश पहले ही जारी है। हम समझ सकते हैं रोज़गार के मामले में और भी भयावह होने वाला है। निजी क्षेत्र में यदि कुछ रोज़गार सृजित होगा भी तो सरकार पहले ही 4 श्रम संहिताएँ लाकर श्रमिकों के हक़ों को कुचलने का भरपूर इन्तज़ाम कर चुकी है। निजी क्षेत्र में काम करने वालों में और उजरती ग़ुलामों में कोई फ़र्क़ नहीं रह जायेगा। निजी कम्पनियाँ मनमाने तरीक़े से मज़दूरों की श्रमशक्ति का शोषण करेंगी। भयंकर बेरोज़गारी के चलते मज़दूर वर्ग की सामूहिक मोलभाव की शक्ति पर भी नकारात्मक असर पड़ेगा जो कि पहले ही नवउदारवादी हमलों के तीन दशकों में काफ़ी कमज़ोर हो चुकी है, और एक अतिरिक्त बेरोज़गार मज़दूर आबादी पूँजीपति वर्ग के लिए हमेशा मौजूद रहेगी। यानी, जितने पक्के रोज़गार बचे हैं वे तेज़ी से ख़त्म होंगे और जो नये रोज़गार मिलेंगे वे भी अनौपचारिक, ठेका व कैज़ुअल मज़दूर के तौर पर मिलेंगे, जिसमें मज़दूरी भी कम होगी, कोई रोज़गार सुरक्षा नहीं होगी, और स्थायी मज़दूरों को प्राप्त होने वाले तमाम हक़ भी नहीं हासिल होंगे, हालाँकि नये श्रम क़ानून स्थायी मज़दूरों के तमाम बचे-खुचे अधिकारों को भी छीनने वाले हैं।

जनता पर मौद्रीकरण की दूसरी बड़ी मार महँगाई के रूप में पड़ेगी। रेलों-बसों के यात्री किरायों, पेट्रोलियम पदार्थों, माल ढुलाई और खाद्य पदार्थों के दामों में बेतहाशा बढ़ोत्तरी होगी। हाइवे पर जगह-जगह टोल खड़े कर दिये जायेंगे और उन पर मनमाना पैसा वसूल किया जायेगा। आज भी कमरतोड़ महँगाई ने आम जनता का जीना दूभर कर रखा है किन्तु आने वाले समय में हमारी जेब से आख़िरी दमड़ी तक हड़प ली जायेगी।

2014 में सत्ता मिलने के बाद से फ़िलहाल तक भाजपा की दो ही नीतियाँ दिखायी दे रही हैं, पहली है योजनाओं के रंग-बिरंगे नाम रखकर पूँजीपति घरानों की सेवा करो और दूसरी है जनता को साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद की आग में धकेल दो ताकि लोग आपस में ही एक-दूसरे का सिर फोड़ते रहें और अपनी बर्बादी के असली कारणों की तरफ़ ध्यान ही न दें। सरकार में बैठे तमाम मंत्री-सन्तरी और भाजपा का कुत्साप्रचारक आईटी सेल देश की बर्बादी को ही विकास सिद्ध करने और सरकारी की लुटेरी नीतियों का विरोध करने वालों को "देशद्रोही" बताने में लगा रहता है।

वैसे आर्थिक नीतियों के तौर पर देखा जाये तो भाजपा में और कांग्रेस में फ़र्क़ सिर्फ़ यह है कि कांग्रेस जिस काम को शब्दों की चाशनी में डुबोकर और रात के अँधेरे में करती थी भाजपा उसी काम को दिन के उजाले में और कांग्रेस से हज़ार गुणा ज़्यादा बेशर्मी और ज़्यादा तेज़ी के साथ अंजाम दे रही है। साथ ही, एक फ़ासीवादी सरकार होने के नाते दमनकारी होने में भी मोदी सरकार ने आज़ाद भारत की सभी सरकारों को पीछे छोड़ दिया है। असल में, तमाम क्षेत्रीय पूँजीवादी पार्टियाँ और भाकपा, माकपा जैसे संसदीय लाल जमूरे तक उदारीकरण-निजीकरण की नीतियों के प्रति कोई उसूली विरोध नहीं रखते हैं। इनका विरोध केवल तभी तक रहता है जब तक ये ख़ुद विपक्ष में बैठे हों। आपको याद होगा ख़ुद भाजपा प्रत्यक्ष विदेशी निवेश यानी एफ़डीआई और निजीकरण जैसे मुद्दों पर ज़मीन सिर पर उठाये रहती थी! लेकिन सत्ता में आने के बाद इन्होंने इन्हीं नीतियों को धड़ल्ले से लागू कर दिया चाहे सरकारी उपक्रमों की हिस्सेदारी और उनके मालिकाना हक़ की बिक्री हो या शिक्षा-स्वास्थ्य जैसे बुनियादी क्षेत्रों में निजीकरण को बढ़ावा दिया जाना हो। निजीकरण-उदारीकरण की नीतियों को लागू करने के रूप में पूँजीपति वर्ग की सेवा करने का यही रवैया कमोबेश हरेक पूँजीवादी बुर्जुआ पार्टी का रहा है। बेशक हर मामले में जनता को बर्बादी की ओर धकेलने में फ़ासीवादी भाजपा तमाम अन्य पूँजीवादी पार्टियों से इक्कीस ही पड़ी है।

आज मौद्रीकरण के रूप में निजीकरण को लागू करने के सरकारी छलावों का प्रतिरोध जनता की संगठित ताक़त के बूते ही किया जा सकता है। संशोधनवादी पार्टियों की गोद में बैठी अर्थवादी ट्रेड यूनियनें, धनी किसानों और कुलकों के संगठन, अलग-अलग रंगों के झण्डों और नारों वाली चुनावबाज़ पार्टियाँ निजीकरण का मुक़ाबला नहीं कर सकती हैं। असल में न तो इनकी निजीकरण का मुक़ाबला करने की नीयत है तथा न ही इनके पास निजीकरण को रोक सकने का माद्दा। निजीकरण समेत भाजपा की समस्त फ़ासीवादी नीतियों का मुक़ाबला मज़दूरों, ग़रीब किसानों और आम मेहनतकश जनता की एकजुटता और उसके जुझारू संघर्षों के बलबूते ही किया जा सकता है। इसके साथ ही हमें पूँजीवादी व्यवस्था के चरित्र और कार्यप्रणाली को भी समझना होगा। पूँजीवादी व्यवस्था मेहनतकश जनता का ख़ून-पसीना निचोड़कर और उसके शोषण के बूते ही क़ायम है। पूँजीवादी राज्यसत्ता और सरकारों की भूमिका केवल मुनाफ़े के तंत्र को क़ायम रखने की ही होती है। सामाजिक उत्पादन और निजी सम्पत्ति पर आधारित निजी मुनाफ़े का अन्तरविरोध ही पूँजीवादी व्यवस्था का बुनियादी अन्तरविरोध होता है और इसे समाजवादी क्रान्ति के द्वारा उत्पादन के साधनों और उत्पादन के निर्णयों पर सामूहिक मालिकाना स्थापित करने और उत्पादन के सामाजिक विनियोजन को स्थापित करके ही हल किया जा सकता है। अपने हक़ और अधिकारों की हरेक छोटी-बड़ी लड़ाई के साथ और उसके दौरान इस लुटेरी व्यवस्था का विकल्प खड़ा करने के कार्यभार को हमें एक पल के लिए भी अपनी नज़रों से ओझल नहीं होने देना चाहिए।

तेलंगाना किसान सशस्त्र संघर्ष के 75 साल: उपलब्धियाँ और सबक़

(दूसरी और अन्तिम क़िस्त)

– आनन्द सिंह

पिछली क़िस्त में हमने देखा कि किस प्रकार 1940 के दशक की शुरुआत में हैदराबाद के निज़ाम की सामन्ती रियासत में आने वाले तेलंगाना के जागीरदारों और भूस्वामियों द्वारा किसानों के ज़बर्दस्त शोषण व उत्पीड़न के विरुद्ध शुरू हुआ आन्दोलन 1946 की गर्मियों तक आते-आते सामन्तों के ख़िलाफ़ एक सशस्त्र विद्रोह में तब्दील हो गया। निज़ाम की सेना और रज़ाकारों द्वारा इस विद्रोह को बर्बरतापूर्वक कुचलने की सारी कोशिशें विफल साबित हुईं। 15 अगस्त 1947 को भारत ब्रिटिश औपनिवेशिक ग़ुलामी से आज़ाद हुआ, लेकिन निज़ाम ने भारतीय यूनियन में मिलने से इन्कार कर दिया। ग़ौरतलब है कि स्वतंत्र भारत की राज्यसत्ता ने हैदराबाद के ख़िलाफ़ एक साल से भी ज़्यादा समय तक कोई कार्रवाई नहीं की। इस दौरान निज़ाम से बातचीत और सौदेबाज़ी चलती रही। यही नहीं इस दौरान भारत सरकार ने "स्टैण्डस्टिल समझौते" के तहत निज़ाम को हथियारों और सैन्य उपकरणों की आपूर्ति भी की जिसका इस्तेमाल निज़ाम की सेना ने किसान विद्रोह को कुचलने के लिए किया। एक साल तक चली बातचीत और सौदेबाज़ी के बावजूद पाकिस्तान परस्त निज़ाम हैदराबाद को भारत में मिलाने को तैयार नहीं हुआ। उधर ग्रामीण इलाक़ों में किसानों और मेहनतकशों ने कम्युनिस्टों के नेतृत्व में निज़ाम की सेना और रज़ाकारों को पीछे धकेल दिया था।

भारतीय राज्यसत्ता द्वारा हथियारों व सैन्य उपकरणों की आपूर्ति के बावजूद निज़ाम की सेना किसान विद्रोह को कुचलने में नाकाम रही। ये वे हालात थे जब 13 सितम्बर 1948 को भारतीय सेना ने हैदराबाद की ओर कूच किया। निज़ाम की सेना ने महज़ पाँच दिनों के भीतर आत्मसमर्पण कर दिया। लेकिन उसके बाद भी निज़ाम को राजप्रमुख की पदवी देकर राज्य का प्रमुख बना रहने दिया गया। 18 सितम्बर 1948 को हैदराबाद रियासत के प्रशासन की बागडोर भारतीय सेना के हाथ में आ गयी। लेकिन उसके बाद भी 25 जनवरी 1950 तक सरकार के सभी आदेश (फ़रमान) निज़ाम के नाम से जारी किये जाते रहे। यहाँ तक कि 26 जनवरी 1950 में अस्तित्व में आये भारतीय संविधान में निज़ाम के राजप्रमुख के पद को मान्यता प्रदान करने का प्रावधान भी जोड़ा गया और 1956 तक निज़ाम राजप्रमुख बना रहा। यही नहीं निज़ाम को प्रिवीपर्स भी मिलता रहा। यह भारत के उदीयमान बुर्जुआ वर्ग और उसकी प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस के घोर समझौतावादी चरित्र को दिखाता है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि हैदराबाद में भारतीय सेना की सैन्य कार्रवाई का असली उद्देश्य निज़ामशाही का ख़ात्मा नहीं बल्कि तेलंगाना किसान विद्रोह को कुचलना था। ग़ौरतलब है कि अपने इस मक़सद को छिपाने के लिए भारत की सरकार ने इसे सैन्य कार्रवाई की जगह पुलिस कार्रवाई का नाम दिया था। आज तेलंगाना में तेजी से बढ़ रही हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी ताक़तें 18 सितम्बर 1948 को 'मुक्ति दिवस'के रूप में मनाने का अभियान चला रही हैं। लेकिन सच तो यह है कि तेलंगाना के किसानों और मेहनतकशों के लिए यह दिन मुक्ति का नहीं बल्कि विश्वासघात का प्रतीक है।

निज़ाम के आत्मसमर्पण के बाद क़रीब 50 हज़ार भारतीय सैनिकों ने किसान विद्रोह को कुचलने के लिए तेलंगाना के गाँवों की ओर रुख़ कर दिया। सेना ने तेलंगाना में बड़े पैमाने पर गिरफ़्तारियाँ, यंत्रणा, आगजनी और निर्मम हत्याओं को अंजाम देते हुए निज़ाम की सेना व रज़ाकारों द्वारा किये गये ज़ुल्मों को भी मात दे दिया। मलाया सरकार की ब्रिग्स योजना की ही तरह ऐसे गाँव बसाये गये जहाँ के निवासियों को सेना के नियंत्रण में रहना था। जंगलों की दो हज़ार आदिवासी बस्तियों को नेस्तोनाबूद कर दिया गया और लोगों को यातना शिविरों में रखा गया। छापामार गाँवों को छोड़कर निकटवर्ती जंगलों में चले गये और वहाँ भी सेना का दबाव बढ़ने पर दूरवर्ती जंगली क्षेत्रों में बिखर गये।

पार्टी के भीतर चली बहसें

निज़ाम के आत्मसमर्पण और हैदराबाद पर भारतीय सेना का क़ब्ज़ा होने के बाद कम्युनिस्ट पार्टी की आन्ध्र इकाई के भीतर एक बहस उठ खड़ी हुई। रवि नारायण रेड्डी के नेतृत्व वाले एक धड़े का मानना था कि तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष निज़ाम की सत्ता के ख़िलाफ़ था और चूँकि अब निज़ाम की सत्ता का पतन हो चुका है, इसलिए सशस्त्र संघर्ष वापस ले लेना चाहिए। यह धड़ा सापेक्षत: धनी किसानों व कुछ छोटे भूस्वामियों के हितों की नुमाइन्दगी करता था जिन्होंने निज़ाम के ख़िलाफ़ जारी किसान विद्रोह का साथ दिया था,परन्तु निज़ाम के पतन के बाद उन्होंने संघर्ष से दूरी बना ली थी। परन्तु मध्यम व छोटे किसान और खेतिहर मज़दूर संघर्ष को जारी रखने के पक्षधर थे क्योंकि वे देख रहे थे कि सेना के आने के बाद भूस्वामी वापस गाँवों की ओर लौटने लगे और किसानों से ज़मीनें छीनने लगे तथा ग्राम राज्यों के आदेशों की अवहेलना करने लगे थे। इसलिए आन्ध्र कमेटी ने अन्तत: गुरिल्ला संघर्ष जारी रखने का फ़ैसला किया, हालाँकि यह स्पष्ट था कि अब उनका सामना पहले से कहीं ज़्यादा ताक़तवर दुश्मन से होने वाला है।

उधर पार्टी में केन्द्रीय स्तर पर भी भारत में क्रान्ति के मार्ग को लेकर बहस चल रही थी। मार्च 1948 में पार्टी की दूसरी कांग्रेस हुई जिसमें दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी को हटाकर बी.टी. रणदिवे को पार्टी का महासचिव बनाया गया था। इस कांग्रेस में तेलंगाना के प्रतिनिधियों के ज़ोर देने के बाद ही दूसरी कांग्रेस की थीसिस में तेलंगाना संघर्ष के महत्त्व का उल्लेख करते हुए उसे समर्थन दिया गया और पूरे देश में ऐसे संघर्ष संगठित करने तथा मज़दूर वर्ग से भी उनके समर्थन में आन्दोलन करने का आह्वान किया गया। रणदिवे ने यह "वामपन्थी" दुस्साहसवादी थीसिस पेश की कि जनवादी और समाजवादी क्रान्तियाँ एक साथ होनी चाहिए, और कम्युनिस्टों को न केवल बड़े बुर्जुआ को बल्कि सभी बुर्जुआओं को अपने हमले का निशाना बनाते हुए देशव्यापी आम हड़ताल और सशस्त्र विद्रोह का मार्ग अपनाना चाहिए। इस "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को तो भारी क्षति पहुँचाई ही, उसके अलावा तेलंगाना संघर्ष के आगे के विकास को भी रोकने का काम किया। उसी साल मई के महीने में आन्ध्र की पार्टी इकाई ने रणदिवे थीसिस का विरोध करते हुए अपनी यह लाइन रखी कि भारतीय क्रान्ति का चरित्र रूसी क्रान्ति से भिन्न है और यह चीन में जारी नवजनवादी क्रान्ति से काफ़ी हद तक समानता रखती है, यहाँ चार वर्गों का संयुक्त मोर्चा बनाना होगा और दीर्घकालिक लोकयुद्ध का मार्ग अपनाना होगा। आन्ध्र थीसिस में माओ त्से-तुंङ के नवजनवाद के सिद्धान्त को प्रासंगिक बताते हुए भारत में सर्वहारा क्रान्ति को दो अवस्थाओं में सम्पन्न करने की योजना प्रस्तुत की गयी। हालाँकि इस थीसिस में भी कुछ खामियाँ थीं, मिसाल के लिए यह भारत के बुर्जुआ वर्ग को दलाल मानती थी, लेकिन कुल मिलाकर यह लाइन तत्कालीन परिस्थितियों में सापेक्षत: बेहतर थी। लेकिन दो वर्षों तक पार्टी पर रणदिवे-लाइन का वर्चस्व बने रहने की वजह से तेलंगाना संघर्ष को भारी नुक़सान हुआ। देश के विभिन्न हिस्सों में किसान संघर्षों को तेलंगाना की राह पर आगे बढ़ाने और मज़दूर वर्ग के संघर्षों को उनके साथ जोड़ने के बजाय "वामपन्थी" दुस्साहसवाद ने पार्टी को जन समुदाय से अलग-थलग कर दिया और क़तारों की पहलक़दमी को पंगु बना दिया। लेकिन अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर आन्ध्र लाइन के अनुमोदन के बाद रणदिवे की "वामपन्थी" अवसरवादी लाइन अलग-थलग पड़ गयी। मई-जून 1950 को रणदिवे की बजाय राजेश्वर राव पार्टी के महासचिव बने और पार्टी ने आन्ध्र-थीसिस को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन इस समय तक, पहले ही काफ़ी देर हो चुकी थी। देशव्यापी स्तर पर संघर्ष के विस्तार की सम्भावनाओं का, ग़लत लाइन काफ़ी हद तक गला घोंट चुकी थी और नयी बुर्जुआ सत्ता को अपने सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का क़ीमती समय मिल चुका था।

सोवियत नेतृत्व का मार्गदर्शन

1951 तक आते-आते पार्टी के भीतर तेलंगाना संघर्ष के आगे के रास्ते के बारे में मतभेद गहराने लगे। बम्बई मुख्यालय में हावी एस.ए. डांगे, घाटे और अजय घोष आदि का दक्षिणपन्थी धड़ा शुरू से ही आन्ध्र लाइन का विरोध कर रहा था। लेकिन आन्ध्र कमेटी का बड़ा हिस्सा फिर भी संघर्ष को जारी रखना चाहता था। उसका मानना था कि फ़ौरी तौर पर नुक़सान के बावजूद, संघर्ष को जारी रखना और देश के अन्य अनुकूल परिस्थितियों वाले भूभागों में उसका फैलाव मुमकिन है।

पार्टी में मौजूद मतभेद, संकट और विभ्रम की स्थिति को दूर करने के लिए, एक बार फिर अन्तरराष्ट्रीय नेतृत्व पर भरोसा किया गया और चार सदस्यों का एक प्रतिनिधिमण्डल 1951 के प्रारम्भ में सोवियत पार्टी के नेतृत्व से बातचीत करने के लिए मास्को गया। इसमें दो – राजेश्वर राव और बासवपुनैया तेलंगाना संघर्ष के नेता थे, जबकि अन्य दो – अजय घोष और डांगे उसका विरोध कर रहे थे। सोवियत पार्टी की ओर से स्तालिन, मालेंकोव, मालरोव और सुस्लोव ने बातचीत की। पी. सुन्दरैय्या ने पार्टी द्वारा संघर्ष वापस लेने के फैसले को जायज़ ठहराने के लिए अपनी किताब में इस ओर इशारा किया है कि स्तालिन ने तेलंगाना सशस्त्र संघर्ष को वापस लेने का सुझाव दिया था क्योंकि इस गोरिल्ला संघर्ष के समर्थन में व्यापक जन समर्थन के अभाव में यह संघर्ष व्यक्तिगत आतंकवाद की दिशा में बढ़ सकता था। लेकिन इस संघर्ष के भागीदार और नक्सलबाड़ी किसान विद्रोह के बाद चारू मजूमदार की दुस्साहसवादी लाइन का विरोध करते हुए क्रान्तिकारी जनदिशा की बात करने वाले डी.वी. राव ने अपनी किताब "तेलंगाना ऑर्म्ड्स्ट्रगल एण्ड दि पाथ ऑफ़ इण्डियन रिवोल्यूशन" में लिखा है कि उस समय उन्हें पार्टी में यह रिपोर्ट किया गया था कि स्तालिन ने भारतीय प्रतिनिधि मण्डल से कहा था कि "सशस्त्र संघर्ष जारी रखने के लिए अधिक हथियार, अधिक काडर और संघर्ष के इलाक़ों में छापामारों के लिए आवश्यक सभी चीज़ों को भेजा जाना चाहिए।" बाद में जब प्रतिनिधि मण्डल ने सशस्त्र संघर्ष जारी रखने में आने वाली चुनौतियों पर जोर दिया तो स्तालिन का कहना था, "यह अफ़सोस की बात है कि आप लोग संघर्ष की रक्षा नहीं कर पा रहे हैं।''

प्रतिनिधिमण्डल के भारत लौटने के बाद भारत में जनवादी क्रान्ति के कार्यक्रम का एक मसौदा तैयार किया गया और एक नीति-विषयक वक्तव्य जारी किया गया जिसमें सशस्त्र संघर्ष का ज़िक्र तो नहीं था लेकिन रणकौशल-विषयक दस्तावेज़ में "अपरिपक्व विद्रोह और जोखिम भरी कार्रवाइयों से सावधान रहते हुए" किसानों के छापामार युद्ध के साथ ही मज़दूरों की वर्गीय हड़तालों और संघर्ष के अन्य रूपों के इस्तेमाल की बात कही गयी थी। उसमें इस धारणा को भी ग़लत ठहराया गया था कि देश के किसी हिस्से में सशस्त्र विद्रोह तभी शुरू किया जा सकता है, जब पूरे देश में विद्रोह की स्थिति तैयार हो। दस्तावेज़ के अनुसार, किसी एक बड़े भूभाग में किसान संघर्ष के ज़मीन-ज़ब्ती के स्तर पर पहुँचने के बाद, व्यापक जनान्दोलन और छापामार युद्ध यदि ठीक तरह से संगठित हों तो देशभर के किसानों को उद्वेलित करके संघर्ष को उच्च धरातल पर पहुँचा देना सम्भव है।

एक शानदार संघर्ष की शर्मनाक ढंग से वापसी

1951 तक आते-आते पार्टी में दक्षिणपन्थी अवसरवादी हावी हो चुके थे। केन्द्रीय कमेटी ने आन्ध्र की कमेटी को संघर्ष केवल तब तक जारी रखने को कहा जब तक पार्टी सरकार से उसे स्थगित करने की शर्तो पर बातचीत पूरी न कर ले। इन शर्तों में किसानों के क़ब्ज़े की ज़मीन ज़मीन्दारों को वापस न करना, क़ैदियों की रिहाई, मुक़दमे वापस लेना और पार्टी से प्रतिबन्ध हटाना प्रमुख थीं। लेकिन केन्द्रीय कमेटी के इस निर्णय के विपरीत अजय घोष के नेतृत्व वाले दक्षिणपन्थी धड़े और आन्ध्र के रवि नारायण रेड्डी गुट ने बिना शर्त संघर्ष वापसी के लिए दबाव बनाना शुरू किया। पार्टी की इस स्थिति का लाभ उठाकर नेहरू सरकार ने किसी भी शर्त को मानने और बातचीत करने से इन्कार कर दिया। मई, 1951 तक केन्द्रीय कमेटी में आन्ध्र के सदस्य भी मान चुके थे कि अब आंशिक छापामार संघर्ष भी जारी रख पाना सम्भव नहीं है।

अक्टूबर, 1951 में पार्टी ने बिना किसी शर्त, निहायत घुटनाटेकू ढंग से संघर्ष वापस लेने की घोषणा कर दी। जंगल के छापामार नेताओं को इसकी खबर बाद में लगी। पार्टी अब पूरी तरह से संसदीय राह पर चल पड़ी। दक्षिणपन्थी धड़े के सामने उसके विरोधियों ने आत्मसमर्पण कर दिया और क़तारों में भारी पस्ती का माहौल फैल गया।

तेलंगाना संघर्ष की फ़ौरी पराजय के कारण

तेलंगाना संघर्ष की फ़ौरी पराजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि पार्टी बोल्शेविक ढंग से एकीकृत नहीं थी और उसमें ऊपर से नीचे तक "वाम" और दक्षिणपन्थी भटकाव के धड़े मौजूद थे, इसलिए वह भारतीय क्रान्ति को नेतृत्व देने में अक्षम थी। 1946 से 1951 के बीच पहले पी.सी. जोशी काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने, फिर रणदिवे काल के "वामपन्थी" भटकाव ने और फिर अजय घोष काल के दक्षिणपन्थी भटकाव ने पूरे देश स्तर पर और तेलंगाना के स्तर पर पार्टी के कार्यों को काफ़ी नुक़सान पहुँचाया था। यह एक ऐसा संक्रमण-काल था, जब नयी सत्ता के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया अभी पूरी नहीं हुई थी लेकिन नौसेना-विद्रोह, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रावायलार के किसान संघर्षों और देशव्यापी मज़दूर आन्दोलनों को एक कड़ी में पिरोकर जनक्रान्ति की धारा को आगे बढ़ाने में पार्टी-नेतृत्व नाकाम रहा। यदि यह प्रक्रिया आगे बढ़ती तो कांग्रेस की समझौतापरस्ती का पहलू और नंगा होकर सामने आता और पार्टी के नेतृत्व में यदि जनवादी क्रान्ति जल्दी पूरी नहीं भी होती तो या तो दीर्घकालिक लोकयुद्ध मज़बूत आधार पर आगे की मंज़िलों में प्रविष्ट हो गया होता या जनसंघर्षों के दबाव में

(पेज 2 पर जारी)

बंगलादेश में एक बार फिर मुनाफ़े की आग की बलि चढ़े 52 मज़दूर

– भारत

भारत हो या बंगलादेश या कोई अन्य पूँजीवादी देश, मालिकों के लिए मज़दूरों की अहमियत कीड़े-मकोड़ों से ज़्यादा नहीं होती। बीते 8 जुलाई को बंगलादेश में ढाका के नारायणगंज क्षेत्र में जूस के कारख़ाने में भीषण आग लगी, जिसमें 52 मज़दूरों की जान चली गयी और कई घायल हुए। 35,000 वर्ग फ़ीट में बने कारख़ाने में सिर्फ़ दो जगह सीढ़ियाँ थीं, मालिक ने जेल की तरह सारे दरवाज़ों पर ताला लगा रखा था, जिससे मज़दूर आग लगने के समय भाग भी नहीं पाये और जलकर मर गये। कुछ मज़दूर तो ऊँची छत से कूदने के कारण मारे गये।

साजीब ग्रुप की यह कम्पनी ऑस्ट्रेलिया, अमेरिका, भारत, भूटान, नेपाल जैसे देशों में अपना माल निर्यात करती थी, पर इतनी बड़ी कम्पनी होने के बावजूद इसके कारख़ाने में सुरक्षा के कोई इन्तज़ाम नहीं थे और न ही आग लगने के बाद निकलने का कोई रास्ता था। आग इतनी भीषण थी कि उसे बुझाने में 3-4 दिन लग गये।

बंगलादेश में टेक्सटाइल सेक्टर सबसे बड़ा सेक्टर है। चीन के बाद बंगलादेश सिले-सिलाए कपड़ों का दुनिया में सबसे अधिक निर्यात करने वाला देश है। 84 प्रतिशत निर्यात राजस्व बंगलादेश को इसी से मिलता है। 45 लाख मज़दूर क़रीब 4,500 गारमेण्ट के कारख़ानों में काम करते हैं। इसके बावजूद यहाँ के कारख़ानों में स्थिति नर्क से भी बदतर है। सुरक्षा से लेकर बुनियादी इन्तज़ाम तक इनमें मौजूद नहीं है। इसी कारण आये-दिन कारख़ानों में आग लगने की घटनाएँ सामने आती हैं।

बंगलादेश में कारख़ाने में आग की यह कोई पहली घटना नहीं है। सबको याद होगा कि बंगलादेश के इतिहास में मज़दूरों के लिए सबसे बड़ी जानलेवा घटना 2013 में घटी थी जब ढाका के राणा प्लाज़ा गारमेण्ट सेण्टर में आग लगने से 1100 से भी ज़्यादा मज़दूर मारे गये थे। इतनी भयानक घटना के बाद भी यह सिलसिला रुका नहीं। अगस्त 2016 में दक्षिण बंगलादेश के चटगाँव में फ़र्टिलाइज़र कम्पनी में गैस लीक होने से 100 मज़दूर मारे गये। 2019 में एक गोदाम में आग लगने से 67 मज़दूरों की मौत हो गयी। 2010 में ग़ैर-क़ानूनी केमिकल कारख़ाने में आग लगने से 123 मज़दूरों मारे गये और 2012 में ढाका के ताज़रीन फ़ैशन फ़ैक्ट्री में आग से 117 मज़दूरों की मौत हुई थी। बंगलादेश के कारख़ानों में आग से मज़दूरों की मौतों की यह फ़ेहरिस्त लम्बी है। एक रिपोर्ट बताती है कि 1990 के बाद से बंगलादेश के कारख़ानों में आग लगने की 50 से ज़्यादा बड़ी घटनाएँ हुई हैं, जिनमें हज़ारों मज़दूर मारे जा चुके हैं। इन्हें दुर्घटना या हादसा कहना सच्चाई के साथ अन्याय होगा। ये सब मालिकों व बड़ी-बड़ी कम्पनियों के मुनाफ़े की हवस को पूरा करने के लिए की गयी हत्याएँ हैं।

दुनिया की सारी बड़ी गारमेण्ट कम्पनियों का माल यहाँ तैयार होता है, जिसके लिए मज़दूर 18-18 घण्टे तक खटते हैं। और वेतन के नाम पर 94 डॉलर यानी क़रीब 7,000 रुपये तक ही पाते हैं। आज बंगलादेश के जिस तेज़ विकास की चर्चा होती है, वह इन्हीं मज़दूरों के बर्बर और नंगे शोषण पर टिका हुआ है।

इन कारख़ानों में साधारण दस्तानों से लेकर जूते तक नहीं दिये जाते और केमिकल वाले काम भी मज़दूर नंगे हाथों से ही करते हैं। फ़ैक्टरियों में हवा की निकासी तक के लिए कोई उपकरण नहीं लगाये जाते, जिस वजह से हमेशा धूल-मिट्टी और उत्पादों की तेज़ गन्ध के बीच मज़दूर काम करते हैं। जवानी में ही मज़दूरों को बूढ़ा बना दिया जाता है और दस-बीस साल काम करने के बाद ज़्यादातर मज़दूर ऐसे मिलेंगे जिन्हें फेफड़ों से लेकर चमड़ी की कोई न कोई बीमारी होती है।

राणा प्लाज़ा की घटना के बाद मल्टीनेशनल कम्पनियों ने कारख़ानों में सुरक्षा के इन्तज़ाम पुख़्ता करने के बड़े-बड़े दावे किये, मज़दूरों को आग से बचने के लिए प्रशिक्षण दिया और यह दिखाने के लिए और भी बहुत सी नौटंकी की कि मज़दूरों की जान को लेकर वे कितने "चिंतित" हैं। लेकिन आये दिन होने वाली आग लगने की घटनाएँ इन कम्पनियों की नौटंकी का राज़ खोल देती हैं और यह नंगी सच्चाई सबके सामने आ जाती है कि इन्हें अपने मुनाफ़े से ज़्यादा कोई प्यारा नहीं है। इसी लिए बंगलादेश में श्रम क़ानूनों का कोई महत्व नहीं है। बंगलादेशी सरकार और उनकी प्रधानमंत्री शेख हसीना भी मज़दूरों की मौत पर चुप्पी साधे बैठी रहती है। आख़िर उसे भी अपने पूँजीपति आक़ाओं की सेवा करनी है। हर जगह मज़दूरों की हो रही मौतों की ज़िम्मेदार यह समूची मुनाफ़ाख़ोर पूँजीवादी व्यवस्था है, जो मज़दूरों के ख़ून की आख़िरी बूँद तक को निचोड़कर अपना मुनाफ़ा निकालती है।

हम मज़दूरों के लिए यह ज़िन्दगी और मौत का सवाल है कि हम इस समूची पूँजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने की तैयारी करें, अपनी क्रान्तिकारी पार्टी का निर्माण करें और मज़दूर राज क़ायम करने की लड़ाई लड़ें, चाहे इसमें कितना ही समय क्यों न लग जाये। वरना हमारी आने वाली पीढ़ियाँ भी ऐसे ही पशुओं के समान जीने और मरने को मजबूर होंगी।

वेतन न देने और वेतन कटौती में घपलेबाज़ी को लेकर मानेसर की श्रीनिसंस कम्पनी के मज़दूरों के क़ानूनी संघर्ष की उम्मीदें भी लगभग ख़त्म!

– शाम मूर्ति

श्रीनिसंस वायरिंग लिमिटेड (मानेसर) के मज़दूरों को पिछले छह महीने से उनके वेतन का भुगतान नहीं किया गया है। दूसरे, वेतन से कम्पनी द्वारा पैसा काटने के बावजूद न तो पी.एफ़. और न ही ई.एस.आयी. में पैसा जमा किया गया है; और न ही मज़दूरों द्वारा कम्पनी से लिये गये क़र्ज़ की क़िश्त चुकायी जा रही थी। इस तानाशाही व घपलेबाज़ी की शिकायत मज़दूरों ने श्रम उपायुक्त को 9 जुलाई को लिखित रूप में भी की थी। स्टाफ़ के क़रीब 20 मज़दूरों की तनख़्वाह का जनवरी 2021 से तथा ठेका व अप्रेण्टिस मज़दूरों का अप्रैल 2021 से भुगतान नहीं किया गया है। शिकायत के बाद एक महीने की तनख़्वाह उनके खाते में ज़रूर डाल दी गयी है। अभी भी क़रीब 50 अप्रेण्टिस मज़दूरों, 15-20 ठेका मज़दूरों तथा स्टाफ़ के 20 मज़दूरों की सैलरी का भुगतान बकाया है। वेतन न मिलने के कारण बहुत से मज़दूर काम भी छोड़ चुके हैं। क़रीब 200 ठेका मज़दूरों में से महज़ 15-20 मज़दूर और स्टाफ़ के भी क़रीब 85 में से 50 मज़दूर ही बचे हैं।

कम्पनी प्रबन्धन इन समस्याओं का कारण काम की कमी बता रहा है जबकि मज़दूर कह रहे रहे हैं कि काम की कमी नहीं है। उल्टे काम इतना है कि कम्पनी ऑर्डर पूरा नहीं कर पा रही है। फ़िलहाल कम्पनी में समस्याओं के बावजूद काम चल रहा है और बचे हुए मज़दूर काम भी कर रहे हैं और वेतन-सम्बधी समस्याओं से भी जूझ रहे हैं। असल में, इस कम्पनी को मालिकों के ही रिश्तेदारों को बेचने की तैयारी चल रही है। चूँकि काग़ज़ों में एक समय-सीमा के भीतर कम्पनी को दूसरी कम्पनी को सौंपना है तो पहले पुराने मज़दूरों को निकालने का षड्यंत्र रचा जा रहा है।

श्रीनिसंस कम्पनी ऑटोमोबाइल सेक्टर के लिए कल-पुर्ज़े बनाने वाली एक वेण्डर कम्पनी है जो मारूति, हीरो जैसी मदर कम्पनियों तथा नपीनो, प्रीकॉल मिण्डा, मदरसन, लुकास टी.वी.एस., इण्टरफ़ेस, अस्ती, पदमिनी, वी.एन.ए., एस.एम.एल, फ़िलिप्स आदि वेण्डर कम्पनियों के लिए हारनेस बनाती है। इसका दूसरा प्लाण्ट रुद्रपुर में है।

पिछली 19 जुलाई को मज़दूरों को डी.एल.सी. ऑफ़िस में सुनवाई के लिए बुलाया गया था। लेकिन न तो उस दिन श्रम उपायुक्त दिनेश कुमार (गुड़गाँव) आये और न ही प्रबन्धन की तरफ़ से कोई आया। 23 जुलाई को होने वाली अगली सुनवाई के पहले ही कम्पनी ने पॉवर कट का बहाना बनाकर काम बन्द कर दिया और गेट भी नहीं खोला। 27 जुलाई की समझौता वार्ता में कम्पनी के न आने पर श्रम विभाग ने एक्स पार्टी (एकपक्षीय निर्णय) के तौर पर फ़ैसला दिया जिसके आधार पर मज़दूर बिना किसी ज़मीनी संघर्ष की तैयारी के, महज़ क़ानूनी तरीक़े से अधिकार पाने का सपना देखने लगे थे।

पहले भी ऐसा देखा गया है कि कम्पनी के बिकने या 30 दिन की समय-सीमा के अन्दर दोबारा सुनवाई करके निर्णय को पलट दिया गया और मज़दूरों के साथ धोखा हो गया। अगस्त में कम्पनी प्रबन्धन ने बचे-खुचे मज़दूरों की एकता को डरा-धमकाकर व भविष्य का डर दिखाकर तोड़ दिया। कम्पनी प्रबन्धन द्वारा यही कहा गया कि अभी जो मिल रहा है, उसे ले लो, वरना वह भी नहीं मिलेगा, कोर्ट के चक्कर काटते रह जाओगे। इस तरह से जो क़ानूनी संघर्ष की सम्भावना थी उसे भी बुरी तरह से कमज़ोर कर दिया गया। 60-70 मज़दूरों में भी महज़ 10-15 बचे थे, जिसमें 4-5 स्टाफ़ के थे और 10-12 कम्पनी रोल पर। एक मज़दूर ने बताया कि मज़दूर 20-50 हज़ार रुपये में हिसाब लेकर काम छोड़कर चले गये हैं। कइयों ने तो पूरा वेतन और मुआवज़ा तक भी नहीं लिया, जो मिला उसी को ठीक समझा। ऐसे में अब सब मज़दूरों को हिसाब मिलना भी मुश्किल लग रहा है।

यह सब तब हुआ जब कम्पनी ने बिना किसी नोटिस, चेतावनी व तफ़तीश के एकतरफ़ा मनमर्ज़ी से आवाज़ उठाने वाले मज़दूरों को गेट बन्द करके बाहर कर दिया। इस तरह प्रबन्धन द्वारा मारपीट की धमकी से गेट पर बैठे मज़दूरों का हौसला टूट गया। ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री काण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन ने उनके सामने यही बात रखी कि हमें जल्द से जल्द मीटिंग करके सामूहिक रूप से संघर्ष का रास्ता निकालना चाहिए। लेकिन मज़दूर अपने आप को इसके लिए तैयार नहीं कर पाये। प्रबन्धन के डर से मज़दूर किसी भी यूनियन से रिश्ता बनाने से डर रहे थे।

संघर्ष की कमज़ोरी क्या थी?

अगर मुड़कर देखें, तो पहले ज़मीनी संघर्ष का रास्ता छोड़कर महज़ क़ानूनी प्रक्रिया पर निर्भरता का रास्ता अपनाया गया। फिर मालिकों द्वारा डराने-धमकाने पर मज़दूर डर गये और एक-एक करके टूटते चले गये। जब मज़दूरों को ज़बरन दोबारा गेटबन्द करके बाहर किया गया था, उसी वक़्त मज़दूरों को एकजुट होकर ज़मीनी संघर्ष के रास्ते पर बढ़ना चाहिए था। तब भी ऑटोमोबाइल इण्डस्ट्री काण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन यही कह रही थी कि एक परचा निकालकर पूरे मानेसर के औद्योगिक क्षेत्र में बाँटते हुए इलाक़े के विभिन्न फैक्ट्री मज़दूरों से संघर्ष में साथ देने की अपील करनी होगी, चाहे उन फ़ैक्ट्रियों में यूनियन हो या न हो। लेकिन श्रीनिसंस फ़ैक्ट्री के मज़दूरों की न तो कोई अपनी यूनियन थी और न ही किसी आन्दोलन में शामिल होने का अनुभव और न ही फ़ैक्ट्री स्तर पर मज़दूरों की कोई संघर्ष समिति थी। इसलिए वे किसी भी तरह के एकजुट संगठित संघर्ष का रास्ता नहीं अपना सके। दूसरे शब्दों में, मज़दूर साथियों का संघर्ष और राजनीति से साबका बहुत ही कम था। संघर्ष और राजनीति की अनुभवहीनता और उनके प्रति उदासीनता और साथ ही क़ानूनी प्रक्रिया पर पूर्ण विश्वास उनकी मुख्य कमज़ोरियाँ थीं। हम मज़दूरों को यह समझ लेना चाहिए कि श्रम विभाग से लेकर फ़ैक्ट्री इंस्पेक्टर आदि पूँजीपतियों, मालिकों और ठेकेदारों की सेवा करते हैं। कोई एक अधिकारी ईमानदार भी हो तो भी वह कुछ ख़ास नहीं कर सकता है क्योंकि जब कभी मज़दूरों के पक्ष में श्रम विभाग का फ़ैसला आता भी है तो उसे लागू करने की कोई व्यवस्था भारत की पूँजीवादी व्यवस्था में जानबूझकर की ही नहीं गयी है। क़ानूनी संघर्ष कभी-कभार ही सफल होते हैं और वह भी तब जब उसके पीछे मज़बूत ज़मीनी संघर्ष मौजूद हो।

ज़रूरी सबक़

इन दिनों मज़दूरों की तनख़्वाह देर से मिलना, अधूरी मिलना या न मिलने के मामले बढ़ते ही जा रहे हैं, कुछेक मामलों को छोड़कर अनियमित मज़दूरों के मामले श्रम विभाग तक पहुँच ही नहीं पाते हैं। शायद ही कोई कम्पनी होगी कि जहाँ काम करने वाले कच्चे मज़दूरों की तनख़्वाह के मामले में कभी कोई समस्या न आयी हो। इसलिए मज़दूरों को महज़ श्रम विभाग और श्रम न्यायालय के निर्णयों तक अपने आप को सीमित नहीं रखना चाहिए, संघर्ष के मुख्य पहलू यानी ज़मीनी संघर्ष की तैयारी व कारवाई को जारी रखना चाहिए। जब दुनिया में श्रम क़ानून नहीं थे तो संघर्षों के ज़रिए ही श्रम क़ानून बनवाये गये थे और लागू भी करवाये गये थे। आज ज़मीनी संघर्षों के कमज़ोर पड़ने की वजह से पहले के हासिल किये गये अधिकार ग़ैर-क़ानूनी और क़ानूनी तौर पर छीने जा रहे हैं। इसके लिए एक बार फिर से देश में मज़दूरों को हक़ और इंसाफ़ की लड़ाई के लिए कमर कसनी होगी। ज़मीनी संघर्षों को भी तभी आगे बढ़ाया जा सकता है जब मज़दूर भाई और बहन अपने आस-पास के सभी मज़दूर और अन्य जनसंघर्षों से सक्रिय रिश्ता बनाएँ और मज़दूरों के संघर्षों के इतिहास से भी परिचित हों। साथ में ही इन सभी संघर्षों पर सोच-विचार करके अपने लिए सबक़ निकालना भी मज़दूरों के लिए बेहद ज़रूरी है क्योंकि इसी प्रक्रिया में वे अपने संघर्षों की कमज़ोरियों को भी समझेंगे और आने वाले दिनों के संघर्षों को पहले से ज़्यादा मज़बूत बनायेंगे। आज के समय में कारख़ाने के भीतर और सभी कारख़ानों के मज़दूरों और विशेषकर अस्थायी मज़दूरों की एकता और संगठन बहुत ज़रूरी है। उसके बिना उनकी ताक़त बेहद कम होती है और मालिक और ठेकेदार उनसे निपट लेते हैं। अगर हम ये सारे क़दम नहीं उठाते तो अचानक सिर पर मुसीबत पड़ने पर कुछ समझ नहीं आता। ऐसे में या तो डर व अनिश्चितता के कारण मज़दूर साथी जल्दी टूटते हैं और तुरन्त हिसाब ले लेते हैं या फिर तमाम ऐसी मौक़ापरस्त और समझौतापरस्त यूनियनों/फ़ेडरेशनों या ख़ुद की अनुभवहीन या मौक़ापरस्त और समझौतापरस्त कमेटी के चक्कर में फँसकर अन्त में थक-हार कर हिसाब लेने को मजबूर हो जाते हैं। थोड़े-बहुत मज़दूर बिना ज़मीनी संघर्ष के हक़ और न्याय पाने के इन्तज़ार में कोर्ट-कचहरी में घिसटते रहते हैं।

जहां तक मज़दूरों के क्रान्तिकारी यूनियन आन्दोलन का प्रश्न है, आज ज़रूरत है कि मज़दूरों को कारख़ाने के पैमाने के साथ-साथ पूरे सेक्टर और इलाकाई पैमाने पर एकजुट और संगठित किया जाये ताकि संकट की घड़ी में एक-दूसरे के साथ खड़ा हुआ जा सके। इस बात को पहले से कहीं ज़्यादा और जल्द से जल्द लागू करने की ज़रूरत है ताकि

(पेज 15 पर जारी)

असम-मिज़ोरम विवाद के मूल कारण क्या हैं? मज़दूर वर्ग को भी इसे क्यों जानना और समझना चाहिए?

– शिवानी

हाल में भारत के दो उत्तर-पूर्वी राज्य असम-मिज़ोरम के बीच सीमा-विवाद से जुड़ा हुआ घटनाक्रम काफ़ी सुर्ख़ियों में रहा। उत्तर-पूर्व का नाम सुनकर हममें से कुछ को लग सकता है कि इतनी दूर-दराज़ की घटना से हम मज़दूरों-मेहनतकशों का सरोकार भला क्यों होना चाहिए! इसलिए होना चाहिए क्योंकि यह भी मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीति को समझने और जानने के लिए आवश्यक है। किसी भी रूप में दबायी जा रही या उत्पीड़ति हो रही जनता और उसकी समस्याओं और संघर्षों से सरोकार रखे बिना मज़दूर वर्ग व्यापक मेहनतकश जनता की क्रान्तिकारी एकता क़ायम नहीं कर सकता है। शासक वर्ग दमित क़ौमों के बीच भी मौजूद अन्तरविरोधों और विवादों को हवा देता है, ताकि उन्हें आपस में लड़वाकर कमज़ोर किया जा सके। हुआ यह है कि हाल ही में असम और मिज़ोरम के बीच राज्य की सीमाओं को लेकर एक विवाद पैदा हो गया।

यह कोई पहली बार नहीं है जब असम और मिज़ोरम के बीच अन्तरराज्यीय सीमा को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ हो। इससे पहले भी दोनों राज्यों के बीच सीमा-निर्धारण को लेकर झगड़े और विवाद पैदा हुए हैं जिन्होंने कई बार काफ़ी उग्र रूप भी अख़्तियार किये हैं।

हालाँकि इस बार इस विवाद के साथ जो हिंसा की वारदातें हुईं उसमें स्वयं असम पुलिस और मिज़ोरम पुलिस शामिल भी थी। यही कारण है कि आम तौर पर हाशिए पर रहने वाले उत्तर-पूर्व के राज्यों के मामलों ने 'मुख्यधारा' में भी इस मुद्दे को लेकर चर्चा छेड़ दी। लेकिन यह पूरी चर्चा ही सतही थी और इस विवाद के हर प्रकार के विश्लेषण में आम तौर पर ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव था और मुख्य राजनीतिक प्रश्नों की अनुपस्थिति थी। **सच्चाई यह है कि राज्यों की सीमा से जुड़े ये विवाद केवल असम और मिज़ोरम के बीच ही मौजूद नहीं हैं, बल्कि उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों के बीच भी इनको लेकर खासा इख़्तिलाफ़ हैं। उत्तर-पूर्वी राज्यों में इन तमाम सीमा-विवादों की जड़ें वास्तव में इतिहास में मौजूद है जिसमें पहले औपनिवेशिक सत्ता और बाद में स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राज्यसत्ता की दमनकारी व ग़ैर-जनवादी नीतियों और क़ौमी दमन की भूमिका केन्द्रीय है।**

इस बार असम-मिज़ोरम के बीच लम्बे समय से व्याप्त सीमा-विवाद ने तूल तब पकड़ा जब 26 जुलाई को मिज़ोरम पुलिस द्वारा राज्य सीमा पर गोलीबारी में 6 असम पुलिसकर्मियों की मौत हो गयी और 50 के क़रीब पुलिस अधिकारी व पुलिसकर्मी घायल हुए। इस हिंसा में एक नागरिक की मृत्यु भी हुई। हालाँकि मिज़ोरम का दावा था कि हमला पहले असम पुलिस की तरफ़ से हुआ था और उसने महज जवाबी कार्रवाई की थी। ग़ौरतलब है कि केन्द्रीय गृहमंत्री अमित शाह की 25 जुलाई को शिलांग में उत्तर-पूर्वी राज्यों के मुख्यमंत्रियों के साथ बैठक हुई थी जिसमें तमाम मसलों के साथ असम के मिज़ोरम, नगालैण्ड, अरुणाचल प्रदेश और मेघालय के साथ सीमा-विवाद पर बातचीत भी शामिल थी। 26 जुलाई की घटना इस बैठक के बाद ही घटित हुई।

इस घटना के बाद असम के मुख्यमंत्री हेमन्त बिस्व सरमा और मिज़ोरम के मुख्यमंत्री ज़ोरामथंगा के बीच इन हिंसा की घटनाओं की ज़िम्मेदारी को लेकर काफ़ी बहस चली और आरोपों-प्रत्यारोपों का भी एक लम्बा सिलसिला चला। **मोदी सरकार के लिए यह शर्मिन्दगी पैदा करने वाली स्थिति थी। वजह यह है कि असम में भाजपा की सरकार है और मिज़ोरम में सत्तासीन मिज़ो नेशनल फ़्रण्ट उत्तर-पूर्व लोकतांत्रिक गठबन्धन (एनईडीए) का हिस्सा है, जिसका गठन भाजपा के नेतृत्व में 2016 में हुआ था** और जिसके संयोजक उस समय से ही असम के वर्तमान मुख्यमंत्री हेमन्त बिस्व सरमा हैं।

बहरहाल, 26 जुलाई के इस घटनाक्रम के बाद दोनों राज्यों में स्थिति को "सामान्य" किये जाने के लिए 28 जुलाई को केन्द्रीय गृह सचिव के साथ असम और मिज़ोरम के राज्य गृह सचिवों की लम्बी वार्ता हुई जिसमें "आपसी बातचीत" से सीमा-विवाद का निपटारा करने पर सहमति बनायी गयी और राष्ट्रीय राजमार्ग 306 पर केन्द्रीय सुरक्षा बलों की तैनाती के निर्देश दिये गये। बावजूद इसके स्थिति गम्भीर ही बनी रही। असम सरकार ने अपने राज्य के लोगों के लिए यात्रा-सम्बन्धी निर्देश जारी करके उन्हें मिज़ोरम न जाने की हिदायत दी। असम पुलिस को निर्देश जारी किये गये कि मिज़ोरम से आने वाली हरेक गाड़ी की अन्तरराज्यीय चेक पोस्ट पर ग़ैर-क़ानूनी नशीले पदार्थों इत्यादि के लिए ठीक से जाँच की जाये और इसके बाद ही राज्य में आने की अनुमति दी जाये। असम ने मिज़ोरम को जाने वाला राष्ट्रीय राजमार्ग कुछ समय के लिए बन्द भी कर दिया था जिससे आवश्यक वस्तुओं, दवाओं आदि को मिज़ोरम पहुँचाने में दिक़्क़तें भी पेश आयीं। यही नहीं, असम पुलिस द्वारा मिज़ोरम पुलिस और मिज़ोरम से राज्य सभा सदस्य के. वनलाल्वेना के ख़िलाफ़ प्राथमिकी भी दर्ज की गयी, तो वहीं मिज़ोरम पुलिस ने भी असम के मुख्यमंत्री हेमन्त बिस्व सरमा और असम पुलिस के अन्य अधिकारियों के ख़िलाफ़ शिकायत दर्ज की। हालाँकि दोनों तरफ़ की इन शिकायतों को बाद में वापस ले लिया गया। इसके बाद गृहमंत्री अमित शाह के "हस्तक्षेप" के बाद दोनों राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने एक साझा बयान जारी करके स्थिति को "सामान्य बनाने और तनाव को ख़त्म करने" की बात कही। लेकिन भाजपा के लिए तो स्थिति वाक़ई में क्लेशपूर्ण हो गयी थी। इस पूरे घटनाक्रम के पीछे काम कर रहे कारकों को थोड़ा गहराई से समझना होगा।

उत्तर-पूर्व में फ़ासीवादी-अन्धराष्ट्रवादी भाजपा का बढ़ता राजनीतिक दख़ल

वास्तव में, 2016 में उत्तर-पूर्व लोकतांत्रिक गठबन्धन (एनईडीए) के गठन के पीछे भाजपा की असली मंशा उत्तर-पूर्व में अपना राजनीतिक दख़ल बढ़ाना था और साथ ही उत्तर-पूर्व के "तनावग्रस्त" इलाक़ों के मुख्यभूमि भारत के साथ एकीकरण के प्रोजेक्ट को आगे बढ़ाना भी था जो वास्तव में और कुछ नहीं बल्कि उत्तर-पूर्व में भारतीय राज्यसत्ता द्वारा राष्ट्रीय दमन की नीति का ही हिस्सा है। भारतीय राज्यसत्ता द्वारा उत्तर-पूर्व में बस रही तमाम राष्ट्रों और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं के साथ किये गये ऐतिहासिक छल-कपट और वायदा-ख़िलाफ़ी की चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन जहाँ तक पूरे उत्तर-पूर्व में अपनी पकड़ बनाने का प्रश्न है तो भाजपा के लिए ऐसा करना इतना सुगम भी नहीं है। कुछ समझौतापरस्त घुटनाटेकू ताक़तों को छोड़ दिया जाए, जोकि अक्सर हर दमित क़ौम में पायी ही जाती हैं तो व्यापक आबादी में भारतीय राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ गहरी ऐतिहासिक नफ़रत मौजूद है और भारत से आज़ादी की चाहत प्रबल है। इस पूरे क्षेत्र में ही भारतीय हुक्मरानों की क़ौमी दमन की नीतियों की मुख़ालफ़त का एक लम्बा इतिहास भी मौजूद रहा है और वर्तमान में भाजपा के तमाम फ़ासीवादी व अन्धराष्ट्रवादी नीतियों के ख़िलाफ़ प्रतिरोध की भी मिसालें हैं।

यह तथ्य भी यहाँ रेखांकित करना आवश्यक है कि भाजपा और संघ परिवार उत्तर-पूर्व में विशेष तौर पर असम को हिन्दुत्व फ़ासीवाद की नयी प्रयोगशाला बनाने के लिए काफ़ी ज़ोर लगा रहे हैं। असम में साम्प्रदायिक ध्रुवीकरण की राजनीति को इसी उद्देश्य से भाजपा कभी एक तो कभी दूसरे रास्ते से लगातार अमल में ला रही है। जहाँ तक असम का प्रश्न है तो पिछले साल सीएए-एनआरसी का शिगूफ़ा भी इसी मक़सद से उछाला गया था, हालाँकि असम में उसका विरोध अन्य कारणों से हुआ था और विरोध पहले से मौजूद "स्थानीय बनाम प्रवासी" की अस्मितावादी राजनीति के कारण ज़्यादा हो रहा था।

हाल में ही असम की भाजपा सरकार द्वारा भी "जनसंख्या नियंत्रण" के नाम पर अन्य भाजपा-शासित प्रदेशों की तर्ज़ पर ही मुसलमान-विरोधी फ़ासीवादी फ़रमान जारी करने की शुरुआत कर दी गयी है। इसके अलावा, कुछ समय पहले ही असम पशु संरक्षण विधेयक, 2021 पारित किया गया जिसके चलते गोमांस की बिक्री पर आंशिक रोक लगना तय है। नये क़ानून के तहत राज्य में मवेशियों के वध, उपभोग और परिवहन को विनियमित करने के प्रावधान शामिल हैं। वास्तव में वर्तमान विधेयक और कुछ नहीं बल्कि 1951 के असम पशु संरक्षण क़ानून का 'अपग्रेडेड वर्ज़न' है। ग़ौरतलब है कि उस वक़्त कांग्रेस ने यह क़ानून बनाया था। क्या इसी तथ्य से ही कांग्रेस की धर्म-निरपेक्षता और फ़ासीवाद-विरोध के ढोल की पोल नहीं खुल जाती है? असम के मुख्यमंत्री हेमन्त बिस्व सरमा ने दावा किया कि इस विधेयक के पीछे कोई ग़लत मंशा नहीं है और इससे तो असल में साम्प्रदायिक सद्भाव मज़बूत होगा! यही नहीं, इन महोदय के अनुसार साम्प्रदायिक सौहार्द बनाये रखने के लिए केवल हिन्दू ही ज़िम्मेदार क्यों हों, मुसलमानों को भी इसमें सहयोग करना चाहिए! नया क़ानून बन जाने पर किसी व्यक्ति को मवेशियों का वध करने पर तब तक रोक होगी, जब तक कि उसने किसी विशेष क्षेत्र के पंजीकृत पशु चिकित्सा अधिकारी द्वारा जारी आवश्यक प्रमाण पत्र प्राप्त नहीं किया हो। उचित दस्तावेज़ के अभाव में मवेशियों को एक ज़िले से दूसरे ज़िले और असम के बाहर परिवहन को भी अवैध बनाने के प्रावधान हैं। इस क़ानून के तहत सभी अपराध संज्ञेय और ग़ैर-ज़मानती होंगे। **इस क़ानून को लेकर उत्तर-पूर्व के अन्य राज्यों में काफ़ी असन्तोष है क्योंकि यह वहाँ के स्थानीय निवासियों के खान-पान की स्वतंत्रता और संस्कृति पर सीधे-सीधे फ़ासीवादी हमला है।**

हम देख सकते हैं कि उत्तर-पूर्व में फ़ासीवादी गिरोह न सिर्फ़ भारतीय राज्य की पुरानी राष्ट्रीय दमन की नीति को ही आगे बढ़ा रहा है बल्कि असम के उदहारण से यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि भाजपा और संघ परिवार अपने राजनीतिक हस्तक्षेप के ज़रिए पूरे सामाजिक ताने-बाने में साम्प्रदायिक नफ़रत, हिदुत्ववादी कट्टरता और धर्मान्धता को भी फैलाने का भरपूर प्रयास कर रहे हैं और फ़िलहाल उन्हें असम में तो एक हद तक इसमें सफलता भी हासिल होती हुई नजर आ रही है।

असम-मिज़ोरम सीमा विवाद: उपनिवेशवाद की एक विरासत

दरअसल मिज़ोरम और असम के बीच 164.6 किलोमीटर लम्बी साझा सीमा है जिसमें मिज़ोरम के आइज़ोल, कोलासिब और मामित ज़िले और असम के कछार, हैलाकाण्डी और करीमगंज ज़िले आते हैं। दोनों ही राज्य 'इनर लाइन रिज़र्व फ़ॉरेस्ट' के लगभग 1,318.31 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र पर अपना दावा पेश करते हैं जिसके कारण किसी भी तात्कालिक टकराहट की घटना के पैदा होने से सीमा को लेकर विवाद पुनः उत्पन्न हो जाता है। इस बार भी यही हुआ था।

सतही तौर पर देखने पर असम-मिज़ोरम सीमा-विवाद के केन्द्र में मुख्य तौर पर औपनिवेशिक काल की दो अधिसूचनाएँ दिखलायी पड़ती हैं। जहाँ मिज़ोरम ऐतिहासिक सीमा की बहाली के लिए 1875 की अधिसूचना का हिमायती है, वहीं असम ऐतिहासिक सीमा-निर्धारण के लिए 1933 की अधिसूचना का पक्षधर है। 1933 की अधिसूचना मणिपुर और लुशाई पहाड़ियों (जोकि मिज़ो पहाड़ियाँ भी कहलाती हैं) के बीच सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में है, जबकि 1875 की अधिसूचना भूतपूर्व लुशाई पहाड़ियों और कछार के मैदान के बीच सीमा-निर्धारण को तय करती है। मिज़ोरम का मानना है कि 1933 की अधिसूचना के समय उसकी रज़ामन्दी नहीं ली गयी थी। 1933 के बदले हुए सीमा-निर्धारण के पीछे एक कारण ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के असम के चाय-बागानों से जुड़े आर्थिक-व्यावसायिक हित भी थे।

इसके अलावा, 1898 में औपनिवेशिक ब्रिटिश सत्ता ने 6 सितम्बर, 1895 की दो अलग उद्घोषणाओं के ज़रिए उत्तरी लुशाई पहाड़ियों को असम प्रान्त के अधीन कर दिया और दक्षिण लुशाई पहाड़ियों को बंगाल प्रान्त के अन्तर्गत कर दिया। इसके बाद 1 अप्रैल, 1898 को ब्रिटिश सत्ता द्वारा एक अन्य उद्घोषणा के ज़रिए दक्षिणी लुशाई पहाड़ियों को असम को स्थानान्तरित कर दिया गया। **लुब्बेलुबाब यह कि लुशाई पहाड़ियों या नगा पहाड़ियों जैसे पहाड़ी इलाक़ों को, जिनमें विशिष्ट नृजातीय समूह रहते थे जिनकी अपनी विशिष्ट संस्कृति और जीवन-शैली थी, उन्हें स्थानीय लोगों की रज़ामन्दी के बग़ैर ज़बरन कभी एक प्रशासनिक इकाई तो कभी दूसरी प्रशासनिक इकाई में पटक दिया जाता रहा है, जिसके कारण एक असन्तोष औपनिवेशिक दौर से ही इन इलाक़ों में मौजूद है।**

आज़ादी के बाद संविधान के छठे शेड्यूल के अन्तर्गत भारत में तमाम "जनजातीय" इलाक़ों के प्रशासन के लिए उन्हें दो भागों में बाँटा गया था– भाग ए और भाग बी। 1952 में लुशाई पहाड़ियों के आइज़ोल और लुङलेह उपभागों, जिनमें कि मुख्यतः मिज़ो लोग बसे हुए थे, का गठन इसी छठे शेड्यूल के अन्तर्गत भूतपूर्व असम की 'लुशाई पहाड़ी स्वायत्त ज़िला काउंसिल' के तौर पर किया गया और 1953 में बाक़ी बचे हुए क्षेत्र में पावी, लखेर, चकमा आदि अन्य स्थानीय बाशिंदों को मिलाकर एक क्षेत्रीय काउंसिल बनायी गयी। 1954 में लुशाई पहाड़ी ज़िले का नाम बदलकर मिज़ो ज़िला कर दिया गया। 1972 में उत्तर-पूर्वी राज्य पुनर्गठन अधिनियम, 1971 के तहत असम में से ही पहले मिज़ो ज़िले को केन्द्र शासित प्रदेश ('यूनियन टेरिटरी') के रूप में गठित किया गया। 1986

(पेज 12 पर जारी)

असम-मिज़ोरम विवाद के मूल कारण क्या हैं? मज़दूर वर्ग को भी इसे क्यों जानना और समझना चाहिए?

(पेज 11 से आगे)

में मिज़ो राष्ट्रीय फ़्रण्ट, जो कि पहले भारतीय राज्यसत्ता के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष में शामिल थी, और भारत सरकार के बीच मिज़ो समझौता क़ायम होने के फलस्वरूप मिज़ोरम को पूर्ण राज्य का दर्जा 20 फ़रवरी, 1987 को प्राप्त हुआ।

हालाँकि अलग राज्य गठन से राष्ट्रीय समस्या का कोई समाधान नहीं हुआ और दमित क़ौमों के सम्बन्ध में ऐसा हो भी नहीं सकता है जिनके लिए एकमात्र क्रान्तिकारी कार्यक्रम अलग होने के अधिकार समेत आत्मनिर्णय के अधिकार का ही होता है। यहाँ यह भी स्पष्ट करते चलें कि संघवाद या किसी भी प्रकार की क्षेत्रीय स्वायत्तता की हिफ़ाज़त या माँग राष्ट्रीय दमन के ख़ात्मे का कार्यक्रम हो ही नहीं सकते हैं, जैसा कि पंजाब के कुछ "मार्क्सवादी" क़ौमवादी आजकल दावा करते फिर रहे हैं। ऐसा कोई भी कार्यक्रम एक शुद्धतः सुधारवादी कार्यक्रम है और लेनिनवादी कार्यदिशा से इसका कोई लेना-देना नहीं है। क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग साझी सहमति से बने बड़े से बड़े राज्य का पक्षधर होता है और विखण्डन की प्रक्रिया को चाहता नहीं है, लेकिन क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग क्रान्तिकारी जनवाद का भी सबसे मज़बूत झण्डाबरदार होता है और इसलिए वह जनवादी तरीक़े से और सभी क़ौमों की साझा सहमति से ही बड़े राज्य का पक्षधर होता है।

इस संक्षिप्त चर्चा के बाद यह कहना ज़्यादा उपयुक्त होगा कि असम-मिज़ोरम के बीच यह आधुनिक सीमा-विवाद वास्तव में औपनिवेशिक दौर की ही एक विरासत है। जिसे भारत का उत्तर-पूर्व कहा जाता है, वह ऐतिहासिक तौर पर कभी भारत का हिस्सा था ही नहीं, हालाँकि प्राचीन काल से ही मुख्यभूमि भारत के साम्राज्यों के इस इलाक़े से सम्पर्क के प्रमाण मौजूद हैं। उत्तर-पूर्व के जनजातीय इलाक़े प्राक्-औपनिवेशिक भारत में शामिल नहीं थे। यदि हम इतिहास में थोड़ा पीछे जायें तो हम पाते हैं कि1818 में उस वक्त ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का हस्तक्षेप उत्तर-पूर्व में शुरू हो गया जब अहोम साम्राज्य के राजा ने बर्मा से बारम्बार होने वाले हमलों से निपटने के लिए उससे मदद माँगी। ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने प्रथम एंग्लो-बर्मी युद्ध में बर्मी सेना को परास्त किया जिसके चलते याण्डाबु की सन्धि अमल में आयी। इस सन्धि के अन्तर्गत अहोम राजा ने अपने राज्य क्षेत्र का एक हिस्सा ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी को तोहफ़े में भेंट किया जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश उपनिवेशवाद उत्तर-पूर्व में अपने अधिकार और हित क़ायम करने में सफल हो गया।

इसके पश्चात् ही ब्रिटिश औपनिवेशिक शासकों ने अपने प्रशासनिक हितों के मद्देनज़र इस पूरे भौगोलिक भू-भाग को औपनिवेशिक भारत में शामिल किया था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी इस क्षेत्र के भूराजनीतिक और सामरिक महत्व को देखते हुए इसे भारत और चीन के बीच एक 'बफ़र क्षेत्र' भी बनाना चाहते थे जिसे वे अपने आर्थिक-व्यापारिक हितों के मातहत रखते। ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने पहले इस भू-भाग को बंगाल प्रान्त के अधीन रखा और 1874 में अलग असम प्रान्त का गठन करके भारत से इस पूरे क्षेत्र का राजनीतिक-प्रशासनिक एकीकरण किया। बावजूद इसके, मूलतः और मुख्यतः औपनिवेशिक नीति उत्तर-पूर्व के सम्बन्ध में शेष भारत से विलगाव और विलगन की ही थी जिसके फलस्वरूप यहाँ बसने वाली तमाम नृजातीय-जनजातीय समूहों के बीच भी अलगाव और पृथकत्व पैदा हुआ, जोकि स्वाभाविक ही था।

ज़ाहिरा तौर पर उत्तर-पूर्व में ब्रिटिश हुकूमत की नीतियाँ अपने व्यावसायिक-आर्थिक हितों और राजकीय-प्रशासनिक सहूलियतों से संचालित थीं। उस दौर में मणिपुर और त्रिपुरा को छोड़कर, जो कि रियासतें थीं, बाक़ी पूरा उत्तर-पूर्व अविभाजित असम ही कहलाता था। असम के ही इन तमाम जनजातीय इलाक़ों की आगे चलकर ब्रिटिश औपनिवेशिक प्रशासन द्वारा एक के बाद एक सीमा निर्धारित की जाने लगी जिसमें स्थानीय जनजातीय समूहों की सहमति नदारद थी और जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। **स्पष्ट है कि ये क्षेत्रीय प्रशासनिक विभाजन न तो ऐतिहासिक परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किये गये थे और न ही जनवादी तरीक़े से जन-आकांक्षाओं के आधार पर ही किये गये थे। यही कारण है कि आज भी असम से निकले अन्य राज्यों में भारतीय राष्ट्रवाद और भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध नफ़रत और ग़ुस्सा तो है ही, लेकिन इसके साथ ही असमिया अन्धराष्ट्रवाद के ख़िलाफ़ भी एक नाराज़गी है, जिसे उत्तर-पूर्व की अन्य क़ौमें क्षेत्रीय पैमाने पर 'बिग ब्रदरली' (बड़े भाई-जैसा) बर्ताव के रूप में देखती हैं।**

संक्षेप में कहें तो, ब्रह्मपुत्र नदी के पूरब का हिस्सा भू-राजनीतिक रूप से पहली बार भारत के उपनिवेशीकरण के बाद ही शेष भारत से जुड़ा। बावजूद इसके, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने उत्तर-पूर्व की जनता की शेष भारत की आबादी से पारस्परिक अन्तरक्रिया नहीं होने दी, बल्कि आम तौर पर उसे अवरुद्ध भी किया। इसकी वजह से भू-राजनीतिक दृष्टि से शेष भारत से जुड़ने के बावजूद इस क्षेत्र की जनता का सांस्कृतिक अलगाव बना रहा। आज़ादी के बाद भारतीय राज्यसत्ता की क़ौमी दमन की नीतियों के तहत ही इस क्षेत्र की प्राकृतिक व खनिज सम्पदा का दोहन करने के कारण इसमें आर्थिक शोषण का भी पहलू जुड़ गया जिसने इस अलगाव को और बढ़ाया और इसे राजनीतिक रूप प्रदान किया।

उत्तर-पूर्व की क़ौमों के साथ भारतीय राज्यसत्ता के विश्वासघात का काला इतिहास

उत्तर-पूर्व में दमन की यह औपनिवेशिक विरासत भारतीय राज्यसत्ता को आज़ादी के बाद उत्तराधिकार में प्राप्त हुई जिसे यहाँ के शासक वर्गों ने हाथों-हाथ लिया। आज़ादी के बाद से ही उत्तर-पूर्व को भारत में शामिल करने पर काफ़ी विवाद उत्पन्न हुए। भारत के साथ एकीकरण कोई पूर्वविदित परिणाम नहीं था जैसा कि अक्सर इतिहास की आधिकारिक-सरकारी पुस्तकों में पढ़ाया जाता है। आज़ादी से पहले भी, विशेषकर नगा और मिज़ो नृजातीय समूहों में, भारत से अलग स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व की इच्छा प्रबल थी, हालाँकि जून 1947 में असम और उत्तर-पूर्व को भारत में शामिल करने का फ़ैसला ले लिया गया।

आज़ादी के बाद जो उत्तर-औपनिवेशिक शासक वर्ग अस्तित्व में आया वह एक बहुराष्ट्रीय और मिश्रित शासक वर्ग था जिसमें कश्मीर और उत्तर-पूर्व की दमित क़ौमों को छोड़कर बाक़ी सभी क़ौमों के बुर्जुआ वर्ग की अपने आकार और शक्तिमत्ता के हिसाब से नुमाइन्दगी थी और केन्द्रीय सत्ता में हिस्सेदारी थी। कश्मीर और उत्तर-पूर्व की क़ौमों को सच्चे और सही अर्थों में आत्मनिर्णय का अधिकार देने की बजाय भारतीय शासक वर्गों ने उनका ज़बरन भारत के साथ एकीकरण किया। कश्मीर के साथ ही उत्तर-पूर्व में भी भारतीय राज्यसत्ता के आज़ादी के पिछले कई दशकों की नीतियों ने राजकीय हिंसा और क़ौमी दमन का बर्बर रूप अख़्तियार किया है।

आज़ादी के बाद से ही उत्तर-पूर्व में राष्ट्रीय विविधताओं के साथ बस रही तमाम क़ौमों व नृजातीय समूहों की आज़ादी की चाहत को फ़ौजी बूटों और बन्दूक़ के ज़ोर के दम पर भारतीय हुक्मरानों ने कुचलने की सैंकड़ों कोशिशें की हैं। 1962 के भारत-चीन युद्ध के बाद तो भारतीय राज्य के लिए उत्तर-पूर्व और भी अधिक सामरिक महत्व का क्षेत्र बन गया और भारतीय राज्यसत्ता को यहाँ तमाम राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को "राष्ट्रीय सुरक्षा" के नाम पर कुचलने का एक प्रकार से 'लाइसेंस' भी प्राप्त हो गया। **इस पूरे क्षेत्र में 1958 से ही कुख्यात काला क़ानून 'सुरक्षा बल विशेष अधिकार अधिनियम' (अफ़्स्पा) लागू है** जिसकी वजह से चुनावों की रस्मअदायगी होने के बावजूद वहाँ व्यवहारतः सैन्य शासन की स्थिति है क्योंकि सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार प्राप्त हैं। इसी काले क़ानून का लाभ उठाकर भारतीय सेना और अर्धसैनिक बलों ने उत्तर-पूर्व में पिछले पाँच दशकों से आतंक का राज क़ायम किया हुआ है और राजकीय दमन और हिंसा का नंगा नाच किया है और इन राज्यों की आम जनता के मानवाधिकारों का बेशर्मी और दण्ड-मुक्ति के साथ हनन किया है। **ग़ौरतलब है कि मानवाधिकारों की धज्जियाँ उड़ाने वाला यह क़ानून पूरी तरह से संविधान सम्मत है!**

मुख्यभूमि भारत में उत्तर-पूर्व को लेकर काफ़ी हद तक ग़ैर-जानकारी और अज्ञानता भी व्याप्त है। जिसे आज भारत का उत्तर-पूर्व कहा जाता है, आज़ादी के वक़्त उस पूरे भू-भाग में भूतपूर्व असम प्रान्त के असम के मैदान आते थे। इसके अलावा पहाड़ी ज़िले, उत्तर-पूर्वी सीमावर्ती प्रदेश के नार्थ-ईस्टर्न फ्रंटियर ट्रैक्ट्स (एनईएफ़टी) और मणिपुर और त्रिपुरा की रियासतें शामिल थीं। इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की संस्कृति और इतिहास में समानता और समरूपता के कुछ तत्व जरूर हैं, लेकिन उनमें कई विविधताएँ भी हैं। कुल आठ राज्यों, यानी कि असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, मिज़ोरम, त्रिपुरा, नगालैण्ड, सिक्किम में विभाजित उत्तर-पूर्व का क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्रफल का 7.98 फ़ीसदी और इसकी आबादी देश की कुल आबादी का 3.7 फ़ीसदी है। इस पूरे क्षेत्र में लगभग 220 नृजातीय समूह और उपसमूह रहते हैं और लगभग इतनी ही बोलियाँ बोली जाती हैं।

औपनिवेशिक शासन के अन्तिम दौर में और आज़ादी के बाद राजकीय व क़ौमी दमन से पैदा हुए राजनीतिक-सांस्कृतिक अलगाव और आर्थिक शोषण से उत्तर-पूर्व की विभिन्न जनजातियों में प्रतिरोध की चेतना पैदा हुई जो एक खास किस्म के नृजातीय राष्ट्रवाद (ethnic nationalism) के रूप में विकसित हुई। भारतीय राज्यसत्ता द्वारा किये गये बर्बर दमन ने इस प्रतिरोध की चेतना को और भी प्रबल बनाया। नगा जैसी कुछ जनजातियाँ अपने कई उपसमूहों को मिलाकर एक राष्ट्र के रूप में विकसित हुईं, तो कुछ राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं के रूप में अस्तित्व में आयीं, जिनकी कोई क्षेत्रीयता तो नहीं थी लेकिन फिर भी अन्य राष्ट्रीय समूहों से भिन्नताएँ थीं। इन राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं के प्रतिरोध का साझा बिन्दु भारतीय राज्यसत्ता के दमन का विरोध था जो इनका साझा शत्रु थी और आज भी है। हालाँकि इनमें आपसी अन्तरविरोधों का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। मसलन नगा-कुकी विवाद, नगा-मेइती विवाद, नगा-जोमी विवाद, असमी-मिज़ो विवाद, असमी-बोडो विवाद आदि।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद से आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने दमन की नीतियों को खत्म करने की बजाय और वहाँ बस रही क़ौमों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की बजाय इन दमनात्मक कारगुज़ारियों को ज्यों-का-त्यों बरकरार रखा बल्कि कई मामलों में उसमें इज़ाफ़ा भी किया। आज़ादी के बाद उत्तर-पूर्व के राज्यों का जो पुनर्गठन किया गया उसका आधार महज प्रशासकीय सहूलियतें थीं जिसकी वजह से कई मामलों में एक ही जनजाति कई राज्यों में बँट गयी और जनजातियों की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ कुचल दी गयीं। इस क़िस्म के पुनर्गठन से नये विवाद भी उभरे, मसलन ग्रेटर नगालैण्ड विवाद, नगा-मणिपुर विवाद, असमी-बोडो विवाद आदि। मौजूदा असम-मिज़ोरम सीमा विवाद भी इसी की एक बानगी है।

राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया में नगालैण्ड को राज्य का दर्जा 1963 में मिला। लेकिन इसके बावजूद नगा ग्रुपों के कई राजनीतिक-प्रशासकीय इकाइयों में बँटे होने के कारण उनका असन्तोष बना रहा। 1972 में असम से खासी, गारो और जयन्तिया पहाड़ी ज़िलों को मिलाकर अलग मेघालय राज्य बना। त्रिपुरा और मणिपुर को, जो कि औपनिवेशिक काल के दौरान रियासतें थीं, पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। मिज़ो पहाड़ियों (मिज़ोरम) और 'नार्थ-ईस्टर्न फ्रण्टियर एजेन्सी' (अरुणाचल प्रदेश) को असम से अलग कर पहले केन्द्र शासित राज्य का दर्जा दिया गया फिर 1987 में इन्हें पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। हालाँकि राज्यों के इस पुनर्गठन की प्रक्रिया ने अलगाव और स्वतंत्रता की आकांक्षा को तो समाप्त नहीं किया, उल्टे अन्य स्थानीय नृजातीय समूहों में भी स्वशासन या स्वतंत्रता की आकांक्षा पैदा हुई और भूभागों पर दावों को लेकर आपस में उग्र टकरावों की शुरुआत हो गयी। इसकी एक मिसाल असम-मिज़ोरम सीमा विवाद भी है।

राजनीतिक-सांस्कृतिक अलगाव और आर्थिक शोषण के अतिरिक्त देश के भीतर से होने वाले प्रवासन और बांग्लादेश समेत अनेक पड़ोसी देशों से होने वाले आप्रवासन से भी 'स्थानीय बनाम प्रवासी' का अन्तर्विरोध पैदा हुआ। दरअसल, औपनिवेशिक काल से ही अविभाजित असम में उपनिवेशवादियों द्वारा चाय बाग़ानों की मौजूदगी के कारण एक हद तक आर्थिक विकास किया गया। यही कारण था कि उस दौर में भी पड़ोसी बंगाल प्रान्त और भारत के अन्य इलाक़ों से लोग रोज़गार और ज़मीन की तलाश में असम प्रवासन करते थे। और चूँकि उपनिवेशवादियों को भी चाय-बागानों में काम करने के लिए मज़दूरों की ज़रूरत थी, तो वह स्वयं भी बाहर से लोगों को काम के लिए बुलाते थे। साथ ही तेल और कोयला खदानों में भी कार्यशक्ति की आवश्यकता होती थी। इसके अलावा सड़क और रेल निर्माण कार्य में भी बाहर से मज़दूरों को काम पर लगाया जाता रहा। बंगाल से आने वाली एक बड़ी आबादी मुसलामानों की भी थी। इन प्रवासियों में कई, जो मुख्यतः चाय-बाग़ानों में काम करते थे, वे वहीं बस भी गये। इस पूरे विवरण के लिए पाठक मार्क्सवादी इतिहासकार अमलेन्दु गुहा को पढ़ सकते हैं जिनका काम असम

(पेज 13 पर जारी)

असम-मिज़ोरम विवाद के मूल कारण क्या हैं? मज़दूर वर्ग को भी इसे क्यों जानना और समझना चाहिए?

(पेज 12 से आगे)

और वहाँ के राष्ट्रवादी आन्दोलनों पर केन्द्रित है। यह प्रवासन आज भी हो रहा है। इन प्रवासियों में अक्सर मज़दूर आबादी ही शामिल होती है। "स्थानीय बनाम प्रवासी" के अन्तरविरोध का फ़ायदा इन क़ौमों में मौजूद फ़िरकापरस्त ताक़तें भी अपने निहित स्वार्थों के लिए उठा रही हैं। सीमित संसाधनों और जनसांख्यिकीय असन्तुलन का हवाला देकर आम जनता में भय और असुरक्षाबोध पैदा किया गया है जो प्रवासियों के ख़िलाफ़ हिंसात्मक घटनाओं में सामने आया है। **ये इन राष्ट्रीय आन्दोलनों में पूँजीवादी राजनीति और विचारधाराओं की मौजूदगी यानी अस्मितावादी व अन्धराष्ट्रवादी रुझान की ओर भी इशारा करता है और अन्ततोगत्वा हर प्रकार के राष्ट्रवाद की सीमा और प्रतिक्रियावादी चरित्र को भी उजागर करता है, भले ही वह दमित राष्ट्र का ही क्यों न हो। दमित राष्ट्रों की राष्ट्रीय मुक्ति की लड़ाई में इन पूँजीवादी विचारों व राजनीति के ख़िलाफ़ संघर्ष करना क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग का एक कार्यभार है क्योंकि तभी सही मायने में जनता की जनवादी राष्ट्रीय क्रान्ति के ज़रिए सच्ची राष्ट्रीय मुक्ति भी सम्भव है। बहरहाल, इन अन्तरविरोधों का फ़ायदा भाजपा जैसी फ़ासीवादी पार्टी इसे मज़हबी रंग दे कर भी उठा रही है।**

बहरहाल, मूल चर्चा पर वापस लौटते हुए बात करें तो उत्तर-पूर्व के विभिन्न राज्यों के इतिहास पर निग़ाह डालने से भारतीय राज्यसत्ता का ऐतिहासिक विश्वासघात स्पष्ट रूप से सामने आता है। इसकी विस्तृत चर्चा में हम यहाँ नहीं जा सकते हैं। फ़िलहाल इतना कहना काफ़ी होगा कि उत्तर-पूर्व के तमाम राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं की आकांक्षाओं को कुचलकर ही भारतीय राज्यसत्ता ने जोर-ज़बर्दस्ती करके इन्हें "भारतीय राष्ट्र" में शामिल किया है।

मणिपुर की बात करें तो आज़ादी के तत्काल बाद ही भारत सरकार के प्रतिनिधि वी.पी. मेनन ने राज्य में बिगड़ती क़ानून-व्यवस्था का हवाला देकर मणिपुर के राजाबोधचन्द्र सिंह को शिलाँग बुलाया और 21 सितम्बर, 1949 को कपटपूर्ण तरीक़े से उससे भारत में विलय के समझौते पर हस्ताक्षर करा लिया। भारत सरकार ने यह भी ज़रूरी नहीं समझा कि इस समझौते की अभिपुष्टि नवनिर्वाचित मणिपुर विधानसभा द्वारा करा ली जाये। उल्टे विधानसभा को भंग कर दिया गया। इसके बाद से ही मणिपुर में भारतीय राज्य द्वारा प्रत्यक्ष दमन की नीति अपनाकर प्रतिरोध को दबाने का सिलसिला शुरू हो गया और इसी के समान्तर सशस्त्र संघर्षों का भी सिलसिला शुरू हो गया। आफ्सपा जैसे काले क़ानून की आड़ में भारतीय सेना द्वारा की गयी बर्बरता ने जन-प्रतिरोध को और बल प्रदान किया। 2004 में भारतीय सैनिकों द्वारा एक मणिपुरी महिला मनोरमा के बलात्कार और हत्या के विरोध में वहाँ की महिलाओं ने निर्वस्त्र होकर सेना मुख्यालय के सामने विरोध प्रदर्शन किया था। यह घटना किसी भी जनवादी होने का दावा करने वाले राज्य के लिए एक शर्मनाक घटना होती। लेकिन भारतीय राज्य की बेशर्मी और बर्बरता बदस्तूर जारी रही और उत्तर-पूर्व में यह दमनकारी जनद्रोही क़ानून आज तक लागू है।

नगालैण्ड की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। औपनिवेशिक शासन के दौरान और बीसवीं सदी की शुरुआत में नगा पहाड़ियों के स्थानीय निवासी नगा नेशनल काउंसिल (एन.एन.सी.) के बैनर तले एकजुट होकर एक साझा मातृभूमि और स्वशासन की आकांक्षा प्रकट करने लगे थे। भारत की आज़ादी के बाद नगा नेशनल काउंसिल ने आत्मनिर्णय के अधिकार की वक़ालत की और भारत से आज़ादी के लिए जनमत संग्रह की माँग भी रखी। लेकिन भारतीय राज्य ने एकतरफ़ा तरीक़े से नगा भूभाग को भारतीय गणराज्य का हिस्सा घोषित कर दिया। बदले में एन.एन.सी. ने नगालैण्ड की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी और 1952 में सम्पन्न पहले आम चुनावों का बहिष्कार भी किया। इसके बाद ही भारत सरकार द्वारा कई नगा नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया और तब से ही नगालैण्ड में एक लम्बे सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत हुई। 1955 में भारतीय राज्य ने पुलिस और सशस्त्र बलों के ज़रिए नगा राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को कुचलने की कोशिश भी की। इसी संघर्ष का सामना करने के लिए 1958 में 'आर्म्ड फ़ोर्सेज स्पेशल पावर्स एक्ट' बना जो आज तक समूचे उत्तर-पूर्व में लागू है। 1975 में एन.एन.सी. के शीर्ष नेतृत्व ने भारत सरकार के साथ वार्ता करके शिलाँग समझौता किया और भारतीय गणराज्य में शामिल होना स्वीकार किया। जिन नगा नेताओं ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया उन्होंने 'नेशनल सोशलिस्ट काउंसिल ऑफ़ नगालैण्ड' (एन.एस.सी.एन.) का गठन करके संघर्ष जारी रखा। अब यह संगठन मुइवा और खापलांग के दो गुटों में विभाजित है, जिनका आधार नगा जनजातीय समूह की अलग-अलग उपजातियों में है।

अब मिज़ोरम पर आते हैं। जैसा कि ऊपर चर्चा में आया था कि मिज़ो पहाड़ी क्षेत्र आज़ादी के वक़्त लुशाई पहाड़ी ज़िले के नाम से असम में गठित हुआ, जिसका नाम 1954 में बदलकर असम का मिज़ो पहाड़ी ज़िला कर दिया गया। असम से अलग होने का एक अलगाववादी आन्दोलन आज़ादी से पहले भी मिज़ो जनजातीय समूहों में मौजूद था। लेकिन 1959 से 1961 तक आये अकाल के राहत कार्य में भारतीय राज्य की उदासीनता और अनदेखी के कारण पहले से ही मौजूद असन्तोष और आक्रोश को नयी ज़मीन प्राप्त हुई। इसके बाद ही साठ के दशक से मिज़ो सशस्त्र विद्रोह की दास्तान शुरू होती है। इसी दौर में मिज़ो नेशनल फ़्रण्ट (एम.एन.एफ़.) का गठन हुआ जिसने 'भारतीय उपनिवेशवाद से मिज़ोरम की मुक्ति' के लिए सशस्त्र संघर्ष का आह्वान किया। फ़रवरी 1966 में सशस्त्र दस्तों ने आइज़ोल शहर पर क़ब्ज़ा कर लिया। नगालैंड की ही तरह भारतीय राज्य द्वारा यहाँ भी दमन की नीति को तत्काल अमल में लाया गया। शहर को फिर से क़ब्ज़ा करने में भारतीय सेना ने नागरिक आबादी पर धुआँधार बमबारी की। हज़ारों परिवारों को उनके घरों से उजाड़ दिया गया। 1986 में एम.एन.एफ़. और भारत सरकार के बीच समझौता हुआ जिसके बाद एम.एन.एफ़. हिंसा छोड़कर "मुख्यधारा" में शामिल हो गया और भारतीय संविधान के अन्तर्गत काम करने पर सहमत हो गया। लेकिन इससे भारत के प्रति मिज़ोरम के नृजातीय समूहों का अलगाव और रोष जरा भी कम नहीं हुआ। आज भी वहाँ अलग-अलग नृजातीय समूहों के अपने-अपने सशस्त्र विद्रोही दस्ते हैं।

सिक्किम के इतिहास पर भी निगाह डालने पर स्पष्ट होता है कि आज़ादी के समय यानी 1947 से ही सिक्किम का दर्जा भारत के संरक्षित राज्य ('प्रोटेक्टोरेट') का था। वह भारतीय यूनियन का हिस्सा नहीं था। 1975 में बिना सिक्किम की जनता से रायशुमारी किये भारतीय संविधान में मौजूद प्रावधान के तहत उसे भारत में मिला लिया गया और पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। जबकि उस वक़्त भी सिक्किम का शासक आत्मनिर्णय का अधिकार माँग रहा था, जिसे भारतीय राज्य द्वारा ख़ारिज कर दिया गया।

इस संक्षिप्त चर्चा से स्पष्ट है कि आजादी के बाद से ही भारतीय हुक्मरानों ने उत्तर-पूर्व के तमाम राष्ट्रों एवं राष्ट्रीयताओं के साथ छल-कपट करके, वायदाख़िलाफ़ी करके, दमन, राजकीय हिंसा और आतंक का अन्तहीन चक्र क़ायम करके उनकी आकांक्षाओं और हक़ों का गला घोंटने का घृणित कुकर्म किया है जिसे भारतीय राष्ट्रवाद के सड़े-गले मुलम्मे के ज़रिए छिपाना भी नामुमकिन जान पड़ता है। यह इतिहास भारत के मज़दूर वर्ग को भी जानने की ज़रूरत है क्योंकि शोषण, दमन और उत्पीड़न का हर रूप में विरोध किये बिना क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग न तो समाजवादी क्रान्ति कर मज़दूर सत्ता को स्थापित कर सकता है और न ही क्रान्तिकारी सर्वहारा जनवाद को स्थापित कर सकता है। किसी भी रूप में दमन, शोषण और उत्पीड़न का साथ देने वाला मज़दूर वर्ग स्वयं भी पूँजीपति वर्ग के हाथों शोषित व दमित होते रहने के लिए अभिशप्त होता है।

असम-मिज़ोरम सीमा-विवाद का हल उत्तर-पूर्व में राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान से जुड़ा है!

उत्तर-पूर्व के तमाम राज्यों में मौजूद आपसी सीमा-विवाद का निपटारा भी वहाँ के राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान से नाभिनालबद्ध है। वैसे तो किसी यूनियन में स्वेच्छा से शामिल हुई इकाइयों के बीच भी सीमा-निर्धारण को लेकर झगड़े-फ़साद हो सकते हैं। एक पूँजीवादी राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत आप और किसी बात की उम्मीद कर भी नहीं सकते हैं। राष्ट्रीय शान्ति या क़ौमी अमन जैसी कोई भी चीज़ पूँजीवाद के मातहत स्थायी तौर पर सम्भव ही नहीं है। लेकिन यह तमाम विवाद अपने आप में क़ौमी दमन नहीं होते हैं। जबकि उत्तर-पूर्व की बात करें तो ये तमाम सीमा-विवाद सीधे-सीधे भारतीय राज्य के क़ौमी दमन की नीति से ही पैदा हुए हैं और उसके अविभाज्य अंग हैं।

क़ौमी दमन का मतलब यह है कि भारतीय शासक वर्ग द्वारा उत्तर-पूर्व में मौजूद तमाम क़ौमों के पूँजीपति वर्ग समेत समूची क़ौम का ही दमन किया जा रहा है। **यानी क़ौमी दमन के निशाने पर मूलत: दमित क़ौम का पूँजीपति वर्ग होता है, जो दमन बाद में वृहद् रूप अख़्तियार कर जनता के अलग-अलग हिस्सों और जन-जीवन को भी अपनी ज़द में ले लेता है। किसी क़ौम के बुर्जुआ वर्ग के दमन के बगैर क़ौमी दमन अस्तित्व में आ ही नहीं सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी क़ौम दमित ही तब मानी जायेगी जबकि उसका पूँजीपति वर्ग दमित हो। आज भारत की बात करें तो, कश्मीर और उत्तर-पूर्व को छोड़कर यह स्थिति और कहीं मौजूद नहीं हैं।** क़ौम या राष्ट्र बनता ही बुर्जुआ वर्ग के अस्तित्व में आने के साथ है। यदि किसी क़ौम से पूँजीपति वर्ग को अलग कर दिया जाये तो उसके बाद जो रह जाता है वह बस जनता ही है। आज उत्तर-पूर्व के राष्ट्रों में यह पूँजीपति वर्ग कितना विकसित या अविकसित है, इस तथ्य से वहाँ मौजूद राष्ट्रीय दमन पर कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है।

इसलिए, उत्तर-पूर्व में तमाम राज्यों के बीच मौजूद सीमा-विवाद क़ौमी दमन का कारण नहीं बल्कि इसी क़ौमी दमन की नीति का एक परिणाम है। अलग से किसी देश के किन्हीं दो राज्यों, जिनमें कि दमित क़ौमें हैं और ज़बरन किसी यूनियन में शामिल की गयी हैं, के बीच सीमा-विवाद के हल की उम्मीद शासक वर्गों से, बिना वृहद् राष्ट्रीय प्रश्न के समाधान के करना ही बेमानी है। आज़ादी के बाद शुरुआती दशकों में तो भारत सरकार ने उत्तर-पूर्व के महत्व को केवल रणनीतिक दृष्टि से ही देखा था। लेकिन पूँजीवादी विकास के साथ ही प्राकृतिक सम्पदा और सस्ती श्रमशक्ति के दोहन की भी शुरुआत हुई। हालाँकि यहाँ बसने वाली क़ौमों में भारतीय राज्यसत्ता के प्रति नफ़रत और अलगाव में कोई कमी नहीं आयी है। किसी काल्पनिक एकाश्मी "भारत राष्ट्र" और भारतीय राष्ट्रवाद में इन क़ौमों का विलयन ज़ोर-ज़बर्दस्ती के बूते ही सम्भव है। इसलिए आज भी इस पूरे भू-भाग में कई सशस्त्र संघर्ष चल रहे हैं। जब तक भारतीय राज्यसत्ता का राष्ट्रीय दमन और ज़बर जारी रहेगा, ये राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष भी विसर्जित नहीं होंगे। नेतृत्व की कोई एक धारा जब समर्पण करेगी तो दूसरी धारा उभरकर सामने आयेगी और संघर्ष को जारी रखेगी। ऐतिहासिक तौर पर कहें तो राष्ट्रीय प्रश्न का अन्तिम और मुकम्मल समाधान तो केवल और केवल एक समाजवादी राज्य के तहत ही सम्भव है जो सही मायने में विभिन्न राष्ट्रों को अलग होने के अधिकार के समेत आत्मनिर्णय का अधिकार और अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं को सुसंगत जनवाद का अधिकार देता है। लेकिन हर दमित क़ौम के लिए पहला कार्यभार राष्ट्रीय मुक्ति का जनवादी कार्यभार ही होता है और उसके लिए क्रान्ति की मंज़लि भी राष्ट्रीय जनवादी ही होती है।

इतिहास ने यह भी साबित किया है कि साम्राज्यवाद के दौर में दमनकारी राष्ट्र या राष्ट्रों के पूँजीपति वर्ग आम तौर पर दमित राष्ट्रों को आत्मनिर्णय का अधिकार और राष्ट्रीयताओं को सुसंगत जनवाद नहीं दे सकते। लेकिन यह भी उतना ही सच है कि राष्ट्र केवल दमनकारी राष्ट्रों के अधिकार देने की वजह से मुक्त नहीं होते, वे अपने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के ज़रिए भी मुक्त होते हैं। यह एक अलग चर्चा का विषय है कि उत्तर-पूर्व के विभिन्न राष्ट्रों का राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष यह राष्ट्रीय मुक्ति हासिल कर सकता है या नहीं, लेकिन इतना तय है कि जब तक इन दमित क़ौमों को राष्ट्रीय मुक्ति हासिल नहीं होती, तब तक शान्ति या स्थिरता की कोई उम्मीद भी नहीं की जा सकती है। किसी भी क़ौम को हमेशा ग़ुलाम बनाकर नहीं रखा जा सकता है। यह बात भारत के उत्तर-पूर्व पर भी उतनी ही लागू होती है।

आज भारत में दमित क़ौमों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों को भारतीय राज्यसत्ता के विरुद्ध मज़दूर वर्ग के समाजवादी क्रान्ति के संघर्ष से जुड़ना होगा और भारत के मज़दूर वर्ग, आम मेहनतकश जनता और छात्रों-नौजवानों को भारत की दमित क़ौमों के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष से ख़ुद को जोड़ते हुए उनके राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के अधिकार का बिना शर्त समर्थन करना होगा। जहाँ एक तरफ़ भारत की मेहनतकश अवाम को हर प्रकार के राष्ट्रीय कट्टरपन्थ और अन्धराष्ट्रवाद से अपना नाता तोड़ना होगा और भारतीय बुर्जुआ वर्ग के मण्डी में पैदा हुए राष्ट्रवाद की असलियत समझनी होगी, वहीं दूसरी तरफ़ दमित क़ौमों में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए लड़ रही ताक़तों को भी यह समझना होगा कि हर प्रकार का बुर्जुआ राष्ट्रवाद और संकीर्ण अस्मितावाद या कट्टरतावाद किसी भी व्यापक और टिकाऊ जन-एकजुटता में बाधा है। भारत की मेहनतकश जनता इस संघर्ष में उनकी शत्रु नहीं, बल्कि दोस्त है। वास्तव में, भारतीय राज्यसत्ता और भारतीय पूँजीपति वर्ग ही हमारा मुश्तरका दुश्मन है, यह बात समझना बेहद जरूरी है। सच्चे और सही अर्थों में राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन भी सार्थक और कारगर तरीक़े से तभी आगे भी बढ़ सकते हैं।

नवउदारवादी नीतियों के तीस वर्ष: जनता के हिस्से में बस दु:ख और तकलीफ़ें ही आयी हैं!

(पेज 1 से आगे)

करना ही उसके लिए भी बेहतर है। इस तरह देश आज़ाद हुआ, आलीशान अट्टालिकाओं में हो रहे जश्न के बाहर बैठी देश की आम मेहनतकश जनता फटेहाल हालत में संगीत, नाच-गाना और आतिशबाज़ी देख रही थी और उम्मीद लगाये थी कि एक दिन वह भी ख़ुशहाल होगी। आज़ादी के क़रीब चार दशक बाद जब नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत हुई तो पूँजीवादी नेताओं और उनके चाकर बुद्धिजीवियों ने कहना शुरू किया कि जब समृद्धि आयेगी तो रिस-रिस कर सब तक पहुँचेगी। लेकिन रिस-रिस कर तो बस दुख-तकलीफ़ आयी है। अमीरज़ादों की समृद्धि की आतिशबाज़ियों को देख सड़कों पर भीख माँग रहे बच्चे ताली बजा कर ख़ुश होते हैं। समृद्धि का अर्थ जनता के लिए बस इतना ही है।

आपने अक्सर लोगों को यह कहते सुना होगा कि अंग्रेज़ चले गये लेकिन अंग्रेज़ी छोड़ गये; अंग्रेज़ी के पीछे छूटने का मतलब सिर्फ़ भाषा से नहीं है इसका अर्थ यह भी है कि अंग्रेज़ों के चले जाने के बाद अंग्रेज़ी नौकरशाही, सेना और पुलिस के औपनिवेशिक ढाँचे को ही अपना लिया गया क्योंकि वह भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए भी अपने हितों की सेवा के लिए उपयुक्त था। इसलिए लूट और दमन बदस्तूर जारी रहा, बस शासक वर्ग बदल गया। जब दमन का बना-बनाया तंत्र आज़ादी के साथ मुफ़्त मिल रहा था तो उसे बदलने की कोई ख़ास आवश्यकता नहीं थी। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट 1935' के 321 धाराओं में से 250 को हू-ब-हू भारतीय संविधान में अपना लिया गया और आईपीसी तो अंग्रेज़ों के ज़माने से चली आ रही है जिनमें नयी धाराएँ जोड़ी गयी हैं लेकिन पुरानी सभी धाराएँ लगभग वैसी ही हैं। लिखित के साथ-साथ अलिखित हथकण्डे भी उन्हीं से सीखकर उसे ख़ूब माजा गया। 'फूट डालो और राज करो' की नीति पूँजीवादी सत्ता के लिए अचूक संजीवनी बूटी है। अंग्रेज़ों ने इसे स्वतंत्रता आन्दोलन को कमज़ोर करने के लिए इस्तेमाल किया और आज़ाद देश में सभी सरकारें इसे अपने-अपने ढंग से मज़दूरों-मेहनतकशों की एकता तोड़ने, उनके संघर्षों को कमज़ोर करने के लिए करती आयी हैं। इसलिए कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज़ादी के दौरान क्रान्तिकारियों की मुख़बिरी करने वालों, अंग्रेज़ों के तलवे चाटने वालों, उन्हें माफ़ीनामा लिखने वालों, आज़ादी की पूर्वसंध्या पर तिरंगा जलाने वालों और महात्मा गाँधी की हत्या करने वालों, आरएसएस और अन्य सहयोगी संगठनों पर कभी कोई ठोस कार्रवाई नहीं की गयी जिससे इनको प्रभावी तौर से रोका जा सके। भारतीय पूँजीवाद को आरएसएस की आवश्यकता थी और इसलिए इसे ज़ंजीर से बँधे कुत्ते की तरह अपने क़रीब बाँधे रखा। समय-समय पर ज़रूरत के अनुसार ज़ंजीर कस दी जाती रही या ढीली कर दी जाती रही। आज पूँजीवाद की ज़रूरत के अनुसार इस खूँखार कुत्ते को भारत के पूँजीपति वर्ग ने सत्ता ही सौंप दी है।

बहरहाल, हम बात कर रहे थे भारत के पूँजीपति वर्ग और उसकी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस के बारे में। सत्ता हासिल करने के बाद भारत का पूँजीपति वर्ग इतना सशक्त नहीं था कि अपने बल-बूते पूँजीवाद के फलने-फूलने के लिए आवश्यक बुनियादी और अवसंरचनागत उद्योगों का ताना-बाना खड़ा कर सके। उसके पास आरम्भिक पूँजी और तकनोलॉजी की कमी थी। इन आवश्यकताओं को पूरा करने की दो राहें थीं; एक साम्राज्यवादी देशों पर पूर्ण-निर्भरता और दूसरा जनता की गाढ़ी कमाई की पाई-पाई का दोहन; इन दोनों में से यहाँ के पूँजीपति वर्ग ने दूसरा रास्ता अपनाया। लेकिन पूँजीपति वर्ग सीधे जनता का पैसा नहीं लूट सकता था और न ही राज्य उसे सीधे लूटकर पूँजीपतियों को थमा सकता था। इसलिए इन्होंने मिश्रित अर्थयव्यवस्था की नीति अपनायी। यानी सार्वजनिक क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र और निजी क्षेत्र। इसे नेहरू ने 'समाजवादी नमूने के समाज के विकास' का नाम दिया। जनता की गाढ़ी कमाई चूस कर देश का विकास आरम्भ हुआ और जनता के पैसे से बुनियादी और अवसंरचनागत उद्योगों को खड़ा किया गया। बुनियादी और अवसंरचनागत उद्योग जैसे इस्पात कारख़ाने, रेल, यातायात और परिवहन, बिजली, संचार आदि सार्वजनिक क्षेत्र में रखे गये। इनमें पूँजी निवेश अधिक और मुनाफ़ा लम्बे कालक्रम में हासिल होना था। वहीं उपभोक्ता वस्तुओं का उत्पादन निजी क्षेत्र को सौंपा गया जिसमें लागत सापेक्षिक रूप से कम और मुनाफ़ा जल्द हासिल होना था। इस योजना का आधार 1944 का बॉम्बे प्लान या टाटा-बिड़ला प्लान था। देश की मज़दूर-मेहनतकश आबादी की कमाई लूट कर देश में बुनियानी और अवसंरचनागत उद्योग खड़े किये गये ताकि पूँजीपति वर्ग के मुनाफ़ा कमाने का काम सुगम हो सके। मतलब 'हर्रे लगे न फिटकरी रंग चोखा'। उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के शुरुआत से ही देश में कई बड़े बैंक थे जिनमें सबसे बड़ा बैंक 'इम्पीरियल बैंक' था। लेकिन दूर-दराज़ के इलाक़ों में भी सेविंग स्कीमें थीं जैसे पोस्ट ऑफ़िस सेविंग स्कीम जो 1882 में खोली गयी थी। जनता की मेहनत की कमाई तक पहुँच के लिए संस्थान पहले से मौजूद थे जिन पर 1948 के बाद नेहरू ने अधिक बल दिया जो कि पूँजी के संचय के लिए लाज़िमी भी था। 1969 में बैंकों के राष्ट्रीकरण ने निवेश के लिए पूँजी की उपलब्धता को बढ़ा दिया। कह सकते हैं कि मिश्रित अर्थव्यवस्था की आड़ में बेहद कुशलतापूर्वक कांग्रेस ने पूँजीपति वर्ग की सेवा की, उसके हितों को साधा और जनता की गाढ़ी कमाई को चूस कर पुल, सड़कें, संचार, परिवहन बनाया गया और जनता के बीच बढ़ रहे मोहभंग पर रस्मी सुधारवाद का नाटक कर पानी के छींटे भी डाले। सीपीआई, सीपीएम और नामधारी कम्युनिस्ट पार्टियों ने भी इन नीतियों का समर्थन कर न केवल जनता की पीठ में छुरा घोंपा बल्कि उनकी राजनीतिक चेतना को भी कुन्द किया जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

नेहरूवियाई 'समाजवाद' के चोगे की सीवन जल्द ही उधड़ने लगी और 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में ही भारत की अर्थव्यवस्था में ठहराव आने लगा। 1970 का दशक मन्दी का दशक रहा। चार पंचवर्षीय योजनाओं और तीन वार्षिक योजनाओं के कुल पूँजी निवेश को देखें तो सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी निवेश का प्रतिशत अनुपात निजी क्षेत्र की तुलना में बढ़ता गया। लेकिन जल्द ही मिश्रित अर्थव्यवस्था या तथाकथित समाजवाद के अन्तरविरोध सामने आने लगे। 1960 के दशक में जो संकट आया था और जो 1970 के दशक में गहराया था, वह राजकीय इजारेदार पूँजीवाद के ढाँचे के भीतर पूँजी संचय का संकट था। बड़ा पूँजीपति वर्ग और साथ ही नवोदित मँझोला व छोटा पूँजीपति वर्ग 'धन्धा करने की पूरी सहूलियत' की माँग कर रहा था, जो कि नेहरूवियाई समाजवाद के ढाँचे में बाधित थी। हर प्रकार के सरकारी विनियमन व नियंत्रण से उसे छुटकारा चाहिए था, जिसे उसने स्वयं अपनी ही ज़रूरत से एक समय स्थापित किया था। इस संकट की ही अभिव्यक्तियाँ थीं उस दौर में बढ़ती महँगाई, बेरोज़गारी, खाद्यान्न संकट, आदि। एक ओर मध्य वर्ग, निम्न पूँजीपति वर्ग और मेहनतकशों के सपने टूट रहे थे, वहीं दूसरी ओर सार्वजनिक क्षेत्र के पालने में पला शिशु निजी पूँजीपति वर्ग अब बड़ा हो चला था और पालना उसके विकास को रोक रहा था। पूँजीवादी हितों की नुमाइन्दगी करने वाले बुद्धिजीवियों और अर्थशास्त्रियों ने पूँजी पर राज्य के विनियमन यानी लाइसेंस, क़ीमतों पर नियंत्रण, आयात पर नियंत्रण, प्रत्यक्ष विदेशी निवेश पर रोक, एमआरटीपी नियंत्रण व सब्सिडी आदि पर सवाल उठाने शुरू कर दिये।

इस दौर में विश्व स्तर पर भी 1970 के दशक में नवउदारवाद के युग की शुरुआत होती है। अपना स्वर्णिम युग जीने के बाद 1960 के दशक के आख़िरी वर्षों में ही अमेरिकी व यूरोपीय पूँजीवाद पर संकट के बादल मण्डराने लगे थे और इसके साथ ही क्रमिक प्रक्रिया में पश्चिम में कल्याणकारी राज्य की नीतियों को समाप्त करना शुरू कर दिया। चूँकि अमेरिकी व आम तौर पर पश्चिमी पूँजीवादी अर्थव्यवस्थाएँ मुनाफ़े की दर का संकट झेल रही थीं, इसलिए पहले उन्होंने अपने यहाँ वित्तीय विविनियमन किये, अमेरिका ने लचीली विनिमय दर स्थापित की, श्रम बाज़ार का भी कुछ उदारीकरण किया और फिर तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के देशों के पूँजीपति वर्ग पर भी दबाव बनाया कि वे भी वित्तीय विविनियमन करें और श्रम बाज़ार को लचीला बनायें ताकि पश्चिमी साम्राज्यवादी पूँजी को इन देशों में और खुल कर सस्ते श्रम की लूट की छूट मिले। अपने कारणों से एशिया व अरब अफ़्रीका और साथ ही लातिन अमेरिका के तमाम पूँजीवादी देशों का शासक वर्ग भी उदारीकरण की आवश्यकता महसूस कर रहा था। विश्व बैंक और विश्व मुद्रा कोष ने तथाकथित 'तीसरी दुनिया' के देशों के आर्थिक संकट का लाभ उठाते हुए उन पर विदेशी पूँजी के लिए अपने दरवाज़े खोलने का दबाव बनाया यानी उन्हें विदेशी व्यापार और विदेशी निवेश पर लगी तमाम पाबन्दियों को हटाने के लिए मजबूर करने का प्रयास किया। कुछ देशों ने (जैसे कि लातिन अमेरिका के कुछ देश) इस प्रकार की नीतियों को ज्यों का त्यों लागू किया, जिन्हें 'सैप' यानी 'स्ट्रक्चरल एडजस्टमेंट' की नीति भी कहा जाता है। इसके आरम्भिक प्रयोग लातिन अमेरिका के देशों में हुए और पानी जैसी मूलभूत सुविधाओं को निजी हाथों में सौंपने से लेकर समूची अर्थव्यवस्था के नवउदारवादी पुनर्गठन के भयंकर परिणाम सामने आये।

भारत के सन्दर्भ में कहा जाये तो यहाँ के पूँजीपति वर्ग ने बेहद कुशलता से इन नीतियों को लातिन अमेरिका के विपरीत अपने हितों के अनुसार बदलकर और विलम्बित प्रक्रिया में लागू किया जिसके कारण भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था उस प्रकार साम्राज्यवाद पर निर्भर नहीं हुई और न ही वह उस प्रकार औंधे मुँह गिरी जिस प्रकार लातिन अमेरिका के कुछ देशों के साथ हुआ। नतीजतन, यहाँ उस प्रकार जनाक्रोश फूट कर सड़कों पर भी नहीं बहा जिस प्रकार लातिन अमेरिकी देशों में हुआ था। अक्सर यह बात कही जाती है कि भारतीय शासक वर्ग अन्तर्राष्ट्रीय दबाव में नवउदारवादी नीतियों को अपनाने के लिए मजबूर था। लेकिन ऐसा नहीं है और इसकी चर्चा हम पहले ही कर चुके हैं कि किस प्रकार मिश्रित अर्थव्यवस्था के विनियमन में निजी पूँजी का दम घुट रहा था और वह लाइसेंस, सब्सिडी, परमिट, श्रम क़ानूनों, क़ीमतों पर नियंत्रण, आयात पर नियंत्रण आदि से पीछा छुड़ाकर मुक्त बाज़ार में गोते लगाना चाहती थी। सिर्फ़ बाहरी परिस्थितियाँ ही नहीं बल्कि आन्तरिक परिस्थितियाँ भी नवउदारवाद के लिए दबाव बना रही थीं। आधिकारिक तौर पर जुलाई 1991 में नवउदारवाद की नीतियों की घोषणा से पहले ही 1980 के दशक में राजीव गाँधी नवउदारवाद के सबसे मुखर समर्थक बने और उनकी सरकार ने सीमित हद तक अर्थव्यवस्था का उदारीकरण किया। 30 उद्योगों में लाइसेंस की आवश्यकता हटायी तथा और साथ ही कई परिवर्तन किये गये।

लेकिन पूरे ढोल-ताशे, तोरण और बन्दनवार के साथ, विकास के बड़े-बड़े वायदों और रोज़गार के स्वर्णिम अवसरों के सपने दिखा कर उदारीकरण, निजीकरण और भूमण्डलीकरण की नवउदारवादी नीतियों की शुरुआत 24 जुलाई 1991 को प्रधानमंत्री नरसिम्हा राव, वित्त मंत्री मनमोहन सिंह और योजना आयोग के उपाध्यक्ष मोंटेक सिंह अहलूवालिया के समय में की गयी। यह दावा किया गया कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से देश में रोज़गार सृजन होगा। इन तीनों ने मिल कर 'ट्रिकल डाउन थियरी' यानी धन-समृद्धि के ऊपर से रिस कर नीचे जाने का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। ऊपर से नीचे का सच तो मेहनतकश लोग अपनी ज़िन्दगी से जानते ही हैं! नीचे से निचोड़कर सारा धन ऊपर की ओर ज़रूर चला जा रहा है और ऊपर से रिसकर केवल ग़रीबी, बेरोज़गारी और बर्बादी आम मेहनतकश जनता के हिस्से आ रही है। अगर ऐसा नहीं होता तो देश में 1990 में जहाँ मात्र 2 अरबपति (डॉलर अरबपति) थे वहीं 2021 में 177 कैसे हो गये? 'हुरुन ग्लोबल रिच लिस्ट' (हुरुन द्वारा बनायी विश्व में अमीरों की सूची) के अनुसार पूरे विश्व में अरबपतियों की संख्या में तीसरा स्थान भारत का है। साथ ही वैश्विक भुखमरी सूचकांक में 107 देशों की सूची में भारत 94वें स्थान पर है। स्वास्थ्य की पहुँच के क्षेत्र में भारत का स्थान 189 देशों में 179वाँ है जो कि बंगलादेश, श्रीलंका, पाकिस्तान, और कई अफ़्रीकी देशों से भी नीचे है। 1995 से लेकर 2009 तक जीडीपी के औसत 6 से सात और कई बार 8 से ऊपर पहुँचने पर सीना चौड़ा कर विकास का दावा करने वाली सरकारें यह नहीं बतातीं कि यह विकास रोज़गारविहीन विकास था क्योंकि 1991 से लेकर 2018 तक बेरोज़गारी की दर 5 प्रतिशत से 6 प्रतिशत के बीच बनी हुई थी जो 2020 में 56 सालों में सबसे ज़्यादा यानी 8.9 प्रतिशत हो गयी। 2021 में तो यह 9.17 प्रतिशत हो गयी। ऐसे विकास की जनता के लिए क्या उपयोगिता जो रोज़गार के अवसर ही न सृजित करे। शेयर बाज़ार में उछाल, पूँजीपतियों की तेज़ रफ़्तार महँगी गाड़ियों, प्राइवेट जेट विमानों, आलीशान अट्टालिकाओं और विदेश यात्राओं की संख्या के आधार पर मापा गया विकास आम मेहनतकश आबादी की थाली में दो जून की रोटी तक नहीं पहुँचाता।

आम आबादी के लिए तो नवउदारवाद तंगी, बेरोज़गारी, कुपोषण और भुखमरी ही लेकर आया है। दिहाड़ी पर काम करने वाली 50 करोड़ आबादी 10 साल पहले वास्तव में जितना कमाती थी आज भी लगभग उतना ही कमाती है जबकि क़ीमतें दोगुनी-तीन गुनी हो चुकी हैं। देश में 60 प्रतिशत आबादी कुपोषण का शिकार

(पेज 15 पर जारी)

नवउदारवादी नीतियों के तीस वर्ष: जनता के हिस्से में बस बस दु:ख और तकलीफ़ें ही आयी हैं

(पेज 14 से आगे)

है। राष्ट्रीय पोषण निगरानी ब्यूरो द्वारा 2015-16 में शहरी आबादी में किये गये सर्वे के अनुसार औसत खानपान में प्रोटीन, कैल्शियम, आयरन, थियामिन, नियासिन आदि पोषक तत्वों की काफ़ी कमी है। यही है देश की मज़दूर मेहनतकश आबादी के लिए नवउदारवाद की स्वर्णिम सौगात।

नवउदारवाद और मज़दूर आन्दोलन

1950 के दशक के आरम्भ से ही संशोधनवाद के मार्ग पर निकल पड़ी भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (भाकपा) नेहरू और कांग्रेस की नीतियों को समाजवाद की दिशा में क़दम मानती थी और राष्ट्रीकरण की रट लगाती थी। भाकपा के अनुसार आज़ादी के बाद कांग्रेस जनवादी कार्यभारों को पूरा कर रही थी इसलिए कम्युनिस्टों को इसका सहयोग करना चाहिए। अत: इन्होंने वर्ग सहयोग की लाइन दी। जब पार्टी की लाइन ही वर्ग सहायोगवाद की हो गयी तब समाजवाद के समर्थन और सर्वहारा वर्ग को क्रान्तिकारी चेतना और उसके ऐतिहासिक मिशन से परिचय कराने की बात तो स्थगित हो गयी। 1964 में एक संशोधनवादी पार्टी के तौर पर ही भाकपा से अलग हुई माकपा सीधे तौर पर नेहरू की गोद में नहीं बैठी और उसने नेहरू को समझौतापरस्त बोलकर उसपर जनवादी कार्यभारों को पूरा करने के लिए सड़क और संसद में दबाव बनाने की बात की। लेकिन असल में वह भी एक संशोधनवादी पार्टी थी, न कि मज़दूर वर्ग की कोई क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी। अपने गरमा-गरम भाषणों और चाय की प्याली में तूफ़ान उठाने के अलावा इन संसदमार्गी जड़वामनों ने बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ़ मज़दूर वर्ग की क्रान्तिकारी राजनीतिक चेतना उन्नत बनाने के लिए कोई ठोस राजनीतिक कार्रवाई नहीं की और मज़दूर वर्ग को अर्थवाद के गोल चक्कर में ही घुमाते रहे। सर्वहारा वर्ग की हिरावल पार्टी का अन्तिम लक्ष्य होता है कि वह बुर्जुआ राज्यसत्ता का ध्वंस करके सर्वहारा राज्यसत्ता की स्थापना करने की ऐतिहासिक मुहिम में मेहनतकश जनसमुदाय को नेतृत्व दे। इस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कम्युनिस्ट मज़दूरों और सभी क्रान्ति-पक्षधर वर्गों के जन-संगठन बनाते हुए, आर्थिक सुधारों-माँगों-रियायतों के लिए अर्थवादी नहीं बल्कि राजनीतिक रूप से लड़ते हुए जनता की जुझारू संगठनबद्धता को बढ़ाते हैं, रूढ़ियों से मुक्ति और वर्ग-चेतना को प्रखर बनाने के लिए सतत् सामाजिक आन्दोलन करते हैं और सांस्कृतिक कार्य करते हैं। लेकिन ऐसा करने की जगह मज़दूर वर्ग को ये संशोधनवादी पार्टियाँ सुधारवाद, पैबन्दसाज़ी, अर्थवाद, अराजकतावादी संघाधिपत्यवाद और ट्रेड यूनियन की गलियों में घुमाती रहीं।

1950 के उत्तरार्द्ध से भाकपा एवं अपने जन्म के काल से ही माकपा और 1980 के दशक से भाकपा (माले) का इतिहास जब ऐसा रहा तब उनसे 1991 में नवउदारवाद के विरुद्ध जुझारू प्रतिरोध की उम्मीद बेकार थी और हुआ भी ऐसा ही। नवउदारवाद ने मज़दूरों का ख़ून बहा कर मिले श्रम क़ानूनों को तिलांजलि दे दी और ये संसदमार्गी संशोधनवादी पार्टियाँ महज़ संगठित क्षेत्र के मज़दूरों और कर्मचारियों को लेकर नपुंसक क़िस्म के विरोध की रस्मअदायगी करती रहीं और 93 प्रतिशत असंगठित मज़दूर वर्ग को तो संगठित करने का इन्होंने कभी ढंग से प्रयास ही नहीं किया। आज सारे पुराने श्रम क़ानून लगभग समाप्तप्राय हैं और मज़दूर जानलेवा हदों तक असुरक्षा की स्थिति में काम करने को मजबूर हैं। मज़दूर वर्ग की जीवन व कार्यस्थिति भयंकर है। खेल और मनोरंजन की क्या बात करें जब मामूली बीमारियों के इलाज की भी सुविधा नहीं है। नये लेबर कोड वास्तव में मज़दूरों की पूँजीपतियों द्वारा बिना किसी रोक-रुकावट लूट को क़ानूनी बनाने के लिए ही लाये गये हैं। इसके अलावा केरल, अतीत में पश्चिम बंगाल और त्रिपुरा में संसदीय वामपन्थी पार्टियों की सरकारों ने स्वयं नवउदारवाद की नीतियों को पूरी निष्ठा से लागू किया है। वर्ग सहयोग की दिशा में बेहद संजीदगी से क़दम बढ़ाते हुए प्रथम यूपीए सरकार में शामिल होकर भारत में उदारीकरण-निजीकरण को सही तरीक़े से लागू करने का रास्ता साफ़ किया और इस दिशा में नयी-नयी नीतियों के जन्मदाता बने। 2005 में संसद में बैठकर इन्होंने सेज़ अधिनियम पास करवाया। सेज़ यानी स्पेशल इकॉनोमिक ज़ोन जिसके तहत ऐसे औद्योगिक क्षेत्र बनाये गये जहाँ किसी भी तरह का श्रम क़ानून लागू नहीं होता।

इस प्रकार इन संशोधनवादी पार्टियों ने मज़दूर वर्ग के साथ ऐतिहासिक ग़द्दारी की। झूठ, विश्वासघात और फरेब का इतना लम्बा काल झेल कर मेहनतकश आबादी के बड़े हिस्से का इनसे मोहभंग हो चुका है और इनका आधार अब मूलत: और मुख्यत: संगठित क्षेत्र के पक्के कर्मचारियों और एक हद तक कुछ राज्यों में छोटे व मँझोले व्यवसायियों और मँझोले व धनी किसानों-कुलकों में है। मज़दूर वर्ग के एक हिस्से में इन्हें लेकर कुछ भ्रम अभी भी हैं, लेकिन उन्हें निरन्तर क्रान्तिकारी प्रचार और संघर्षों के ज़रिए इन्हें बेनक़ाब करके ही तोड़ा जा सकता है। सच्चाई यह है कि वाह्य आवरण में आम मज़दूरों को कम्युनिस्ट दिखने वाली ये पार्टियाँ अपनी अर्न्तवस्तु में बुर्जुआ ही होती हैं। संशोधनवादी पार्टियों द्वारा मज़दूर वर्ग के आन्दोलन को सुधारवाद, अर्थवाद और संशोधनवाद के पंककुण्ड में ले जाने का सबसे ज़्यादा फ़ायदा फ़ासीवादी शक्तियों को मिला जिन्होंने पूँजीवादी व्यवस्था के संकट और क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट शक्तियों के अभाव में मज़दूर आन्दोलन के एक छोटे हिस्से में और व्यापक टुटपुँजिया आबादी में प्रतिक्रिया का आधार तैयार किया।

राम जन्मभूमि आन्दोलन, बाबरी मस्जिद ध्वंस, 1991 के संकट के बाद और 1995 तक उदारीकरण-निजीकरण के विनाशकारी परिणामों के बाद भारत में फ़ासीवादी आन्दोलन पहले से कहीं अधिक आक्रामक हो कर उभरा। एक करोड़ 42 लाख सदस्यों वाली एटक और 60 लाख से भी ज़्यादा की सदस्यता का दम्भ भरने वाला सीटू और बंगाल, केरल और त्रिपुरा में सरकारें चलाने वाली माकपा और भाकपा इस आक्रामक फ़ासीवादी सैलाब के समय किनारे बैठ कर धार्मिक सौहार्द्र का कीर्तन करती रहीं और साम्प्रदायिकता से लड़ने के नाम पर कभी कांग्रेस तो कभी मुलायम सिंह यादव का पुछल्ला बनी रहीं। जब 2002 में जलते गुजरात के विरोध में सड़कों पर उतरने की और फ़ासीवादियों से निपटने की, मज़दूरों के लड़ाकू संगठन बनाने की और ख़ाकी चड्डीधारियों का मुँहतोड़ जवाब देने की ज़रूरत थी, तब भी इतनी बड़ी सदस्य संख्या लेकर इन संशोधनवादी पार्टियों को संसद के एसी सभागार फ़ासीवाद से लड़ने के ज़्यादा कारगर उपाय लगे। वास्तव में, ये मज़दूर वर्ग का कोई क्रान्तिकारी आह्वान करने की क्षमता खो चुके थे और अगर दहाड़ने के लिए भी मुँह खोलते हैं तो मुँह से म्यांऊँ ही निकल जाता है। इनका यह इतिहास दर्शाता है कि फ़ासीवाद को एक 'अप्रतिरोध्य उभार' बनाने में अगर किसी एक शक्ति की सबसे अधिक भूमिका है तो वह संशोधनवाद ही है।

पश्चिम बंगाल में लोकसभा चुनावों और राज्यसभा चुनावों के दौरान भाकपा-माकपा का बड़ा जनाधार खिसक कर भाजपा की ओर चला गया। इसे जनता की क्रान्तिकारी ऊर्जा को अर्थवाद और संशोधनवाद से बधिया कर देने और उनकी राजनीतिक चेतना को कुन्द करने के परिणाम के तौर पर देखा जा सकता है। देश के अन्य हिस्सों में भी मज़दूर, निम्न-मध्यवर्ग और आम मेहनतकश वर्ग के बीच क्रान्तिकारी पार्टी और राजनीति की नामौजूदगी की वजह से बढ़ते आर्थिक असुरक्षा व संकट काल में फ़ासीवादी ताक़तों को अपने पैर पसारने का अवसर मिल जाता है।

नवउदारवाद के दौर में फ़ासीवाद का उभार

पूँजीवाद जिस असमाधेय संकट से गुज़र रहा है उससे निपटने के लिए दुनिया के तमाम देशों में पूँजीपति वर्ग सबसे प्रतिक्रियावादी, दक्षिणपन्थी, मज़दूर-विरोधी और फ़ासीवादी सरकारों को चुन रहा है। भारत के सन्दर्भ में हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी मोदी सरकार सत्ता में आयी। यहाँ के पूँजीपति वर्ग को ऐसी सरकार की ज़रूरत थी जो लोहे के हाथों से उन नीतियों को लागू करे जो मुनाफ़े की राह में सभी परेशानियों को हटा दें और पूँजी के लिए खुले चारागाह का निर्माण करें। इसके लिए आदर्श प्रत्याशी मोदी और पार्टी भाजपा ही थे। इसलिए मोदी सरकार जब 1914 में सत्ता में आयी तो सबसे पहले श्रम क़ानूनों में बदलाव किया। आज यह बदलता-बदलता समाप्त प्राय हो गया है और उनकी जगह बस चार लेबर कोड रह गये हैं। ये कोड मज़दूरों को ग़ुलामों की स्थिति में ला देंगे। सारे सार्वजनिक संस्थान औने-पौने दामों में बेचे जा रहे हैं। पूँजीपतियों की सारी मुँहमाँगी मुरादें पूरी हो रही हैं इसलिए तो मुकेश अम्बानी विश्व में आठवाँ और एशिया में सबसे अमीर व्यक्ति बन गया है।

एक ओर जहाँ धन कुछ मुट्ठी भर आबादी के हाथों संकेन्द्रित हो रहा है वहीं भूमण्डलीकरण और उदारीकरण के 30 वर्षों ने बड़े पैमाने पर छोटे पूँजीपति वर्ग को उजाड़ा, छोटे पैमाने के उत्पादकों, दुकानदारों, वेतनभोगियों और साथ ही ग्रामीण निम्न-पूँजीपति वर्ग को भी उजाड़ा है। बड़े पैमाने पर लोग सड़कों पर आ गये और जो सड़कों पर नहीं आये, उनके सिर पर भी लगातार छँटनी और तालाबन्दी, नौकरी से निकाल दिये जाने, ठेके पर कर दिये जाने की तलवार लटकती रहती है। कहने का अर्थ है निम्न-पूँजीपति वर्ग के सामने भविष्य की असुरक्षा और अनिश्चितता बेहद तेज़ रफ़्तार से बढ़ी है। भाजपा और आरएसएस ने इसी असुरक्षा और अनिश्चितता का फ़ायदा उठाया। इस अनिश्चितता और असुरक्षा से पैदा हुए ग़ुस्से, बौखलाहट, चिड़चिड़ाहट और निराशा को संघ परिवार ने अल्पसंख्यकों विशेषकर मुसलमानों और शरणार्थियों की ओर मोड़ दिया। मुसलमानों, शरणार्थियों, ईसाइयों आदि को सभी संकट, परेशानियों और असुरक्षा की वजह बताते हुए इनके ख़िलाफ़ सड़कों पर उन्माद पैदा किया गया। संघ परिवार का पैदा किया साम्प्रदायिक उन्माद तत्कालीन आर्थिक संकट की वजह से उभरा और फ़ासीवाद भारत में पहली बार 1980 के दशक में एक प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन बनकर उभरा। लेकिन विचारधारात्मक, संगठनात्मक और संस्थाबद्ध कामों की तैयारी संघ 1925 से ही कर रहा था। शाखाओं, सांस्कृतिक केन्द्रों, शिशु मन्दिरों में साम्प्रदायिक, स्त्री-विरोधी, दलित-विरोधी ज़हर घोल-घोल कर पिलाया जाता रहा और आज इन संस्थाओं से निकले लोग नौकरशाही, पुलिस, सेना, न्यायपालिका, विश्वविद्यालयों से लेकर नुक्कड़-चौराहों पर संघ के विचारों के रक्षक और प्रचारक बने बैठे हैं। बहरहाल, आज कोई देशव्यापी क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट पार्टी मौजूद नहीं है जो कि व्यापक मेहनतकश अवाम को क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में जगा सके, गोलबन्द कर सके, संगठित कर सके और समझा सके कि उनके दु:खों, तकलीफ़ों और असुरक्षा की असल वजह पूँजीवाद है न कि कोई धर्म या समुदाय। आज ऐसी पार्टी का निर्माण करते हुए मज़दूर वर्ग के बीच व्याप्त सभी प्रकार के विजातीय विचारों से लड़ना होगा और उनकी राजनीतिक चेतना उन्नत करनी होगी। मज़दूर वर्ग को उसके ऐतिहासिक मिशन की याद दिलानी होगी और उसके बीच व्याप्त रुढ़िवादी, अवैज्ञानिक, अतार्किक विचारों से सतत् संघर्ष करना होगा। केवल इसी के ज़रिए मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश अवाम फ़ासीवादियों को मुँहतोड़ जवाब दे सकती है।

अन्तत: 30 वर्षों के नवउदारवाद के काल ने देश में वर्गों का ध्रुवीकरण ख़तरनाक सीमा तक बढ़ा दिया है। करोड़ों-करोड़ बदहाल, निराश और बेघर आबादी के शीर्ष पर मुट्ठी भर आबादी आपराधिक अय्याशी का जीवन जी रही है और आने वाले समय में बढ़ती महँगाई, छँटनी-तालाबन्दी, बेरोज़गारी को देखते हुए यह ध्रुवीकरण और गहराने जा रहा है। आर्थिक संकट से पैदा असन्तोष को दबाने के लिए फ़ासीवाद के हमले भी और आक्रामक होंगे जिसके संकेत मिल रहे हैं। क्रान्तिकारी शक्तियों को सर्वहारा वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार-प्रसार के काम को युद्ध स्तर पर संगठित करना होगा और मज़दूर मेहनतकश वर्ग को इन राजनीतिक गतिविधियों में बढ़-चढ़ कर हिस्सा लेना होगा।

मानेसर की श्रीनिसंस कम्पनी के मज़दूरों...

(पेज 10 से आगे)

अपनी रोज़ी-रोटी को बचाया जा सके और लूट, शोषण व दमन के ख़िलाफ़ समूचे मज़दूर वर्ग और आम मेहनतकश आबादी का सशक्त प्रतिरोध खड़ा किया जा सके। पूँजीवाद के मुनाफ़े की दर गिरने का संकट पहले से कहीं ज़्यादा तेज़ होता जा रहा है और मज़दूरों के लूट, शोषण व दमन तेज़ होता जा रहा है। यही समय है कि हम मज़दूर जल्द से जल्द एकजुट हो जायें, संगठित हो जायें, और सोच-समझकर अपने संघर्ष को आगे बढ़ायें। मालिक, ठेकेदार, जॉबर आदि हमसे ज़्यादा नहीं हैं, लेकिन वे हमसे ज़्यादा संगठित हैं और उनके पीछे सरकारों की ताक़त है। दूसरी ओर, हम असंगठित और बिखरे हुए हैं। **यदि हम संगठित और एकजुट हों तो सरकारों की ताक़त साथ होने के बावजूद वे हमसे मुक़ाबला नहीं कर सकते। वे अभी ऊँचे इसलिए दिख रहे हैं क्योंकि हम घुटनों पर बैठे हुए हैं।**

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2020-2022
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 5, प्रत्येक माह

टोक्यो ओलम्पिक में भारत का प्रदर्शन: एक समीक्षा

– सार्थक

अगस्त महीने में टोक्यो ओलम्पिक खेलों का समापन हुआ और भारत को इस बार एक स्वर्ण, दो रजत और चार काँस्य पदक मिले हैं। इस प्रकार कुल पदकों की संख्या सात रही है। हर छोटी से छोटी उपलब्धि की तरह मोदी जी इस बार भी मौक़े पर चौका मारने के लिए पहले से ही तैयार बैठे थे। गोदी मीडिया, आईटी सेल और अन्य सभी प्रचार तंत्रों का इस्तेमाल कर मोदी जी देशवासियों के सामने ऐसा स्वांग रच रहे हैं कि देखने वाले को लगता है जैसे मोदी जी ख़ुद ही सातों पदक जीत कर आये हैं! ख़ैर इन लफ़्फ़ाज़ियों और ढोंग को एक किनारे कर ओलम्पिक खेलों में भारत के प्रदर्शन की एक वस्तुपरक समीक्षा करने की ज़रूरत है।

टोक्यो ओलम्पिक में भारत का प्रदर्शन अब तक का सबसे अच्छा प्रदर्शन रहा है। यदि पिछले प्रदर्शनों से तुलना की जाये तो भारत का प्रदर्शन पहले इतना फीका रहा है कि अभी हासिल सात पदक किसी कीर्तिमान से कम प्रतीत नहीं होते हैं। 1900 में हुए पेरिस ओलम्पिक में भारत ने पहली बार ओलम्पिक खेलों में हिस्सेदारी की शुरुआत की थी। 1900 से लेकर 2020 के बीच पच्चीस ओलम्पिक खेलों में भाग लेकर भारत ने कुल 35 पदक अर्जित किये हैं। इनमें से 12 पदक भारत ने सिर्फ़ पुरुष हॉकी प्रतियोगिता में जीते हैं। जब हम इन आँकड़ों की तुलना दूसरे देशों से करते हैं तो हमें समझ आता है कि भारत जैसे विशाल देश के लिए इतने कम पदक हासिल करना चौंकाने वाला है। टोक्यो ओलम्पिक में अमेरिका ने 113 और चीन ने 88 पदक जीत है, जिसमें अमेरिका के 39 और चीन के 38 स्वर्ण पदक हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो भारत पच्चीस बार इन खेलों में भाग लेकर जितना पदक हासिल नहीं कर सका उसका चौगुना कुछ देश एक ही बार में हासिल कर लेते हैं। 130 करोड़ आबादी वाले भारत में ओलम्पिक खेलों के मामले में यह ख़स्ता हाल दुनिया भर के खेल विशेषज्ञों, पण्डितों और आम खेल प्रशंसकों के लिए एक आश्चर्य का विषय है। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए कई विशेषज्ञ अपने-अपने तरीक़े से तर्क देते हैं; भारत की विफलता के कारणों की व्याख्या करते हैं। लेकिन इनके विश्लेषण और इनके दिये सुझाव इस मुनाफ़ाख़ोर व्यवस्था को सीधे कठघरे में खड़ा नहीं करते हैं बल्कि इसी व्यवस्था की चौहद्दियों में ही इस समस्या का हल ढूँढ़ते रहते हैं।

ओलम्पिक या कोई भी अन्तरराष्ट्रीय प्रतियोगिता में भारत का लगातार पिछड़ा प्रदर्शन एक ढाँचागत समस्या है जिसका समाधान इस मुनाफ़े पर टिकी व्यवस्था के आमूलचूल परिवर्तन से ही हो सकता है। यहाँ का पूँजीपति वर्ग मज़दूर-मेहनतकश आबादी के एक-एक क़तरे को निचोड़ कर ऐशोआराम की ज़िन्दगी जीता है। 12-14 घण्टे कारख़ानों में कमरतोड़ मेहनत करने के बाद जब हम अपने घरों को लौटते हैं तो हमारे पास मनोरंजन या सृजनात्मक कार्यों के लिए ताक़त और समय दोनों ही नहीं बचते हैं। हम थक-हार कर सो जाते है और अगले दिन उठ कर फिर उसी कमरतोड़ मेहनत में लग जाते हैं। शिकागो के अमर शहीद मज़दूरों ने जिस "आठ घण्टे का काम-आठ घण्टे का आराम-आठ घण्टे का मनोरंजन" का नारा बुलन्द किया और जिसके लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी आज वही नारा मज़दूरों के लिए अतीत का एक अवशेष मात्र बन कर रह गया है। आप ही सोचिए कि ऐसी हालत में देश की बहुसंख्यक आबादी जो जैसे-तैसे मेहनत करके अपना गुज़ारा करती है क्या वह कभी ओलम्पिक खेलों में हिस्सा ले सकती है? भारत में एक बड़ी आबादी ऐसी है जो किशोरावस्था यानी महज़ 14-15 साल की उम्र से ही भारी शारीरिक श्रम में लग जाती है। किशोरावस्था ही उम्र का वह पड़ाव होता है जब बच्चों में खेलकूद की प्रतिभा सबसे स्पष्ट रूप में प्रकट होती है। लेकिन उन बच्चों का क्या जो स्कूल ही नहीं जाते। यदि स्कूल किसी तरह चले भी जायें और उनकी प्रतिभा की पहचान हो भी जाये तो उनके प्रशिक्षण और तालीम पर होने वाले ख़र्च की आशा भी करना उनके लिए आकाश कुसुम की अभिलाषा के समान होगा। आप ही सोचिए कि हमारे बच्चे खेलकूद के बारे में सोच भी कैसे सकते हैं जब उन्हें कारख़ानों, दुकानों, रेहड़ी-खोमचों में दो वक़्त की रोटी के लिए जद्दोजहद करनी पड़ती है? अपना और अपने परिवार का पेट भरने के लिए ता-उम्र ये नौजवान अपनी हड्डियाँ गलाते रहते हैं। इस तरह देश की एक बड़ी आबादी खेल के दायरे से ही बाहर हो जाती है।

मज़दूरी की स्थिति को देखते हुए घर में जो पैसा आता है उससे दाल-रोटी भी चलानी मुश्किल होती है। एक खिलाड़ी पैदा करने के लिए सन्तुलित आहार की बात सोचना तो असम्भव ही है। एक उन्नत खेल संस्कृति को गढ़ने और ओलम्पिक खेलों में एक शक्तिशाली ताक़त बनने के लिए एक स्वस्थ और सेहतमन्द युवा पीढ़ी को गढ़ना अनिवार्य है। जिस देश में हर दिन भूख, कुपोषण और संक्रामक रोगों से सरकारी आँकड़ों के अनुसार 2,257 बच्चों की मौत होती हो (हालाँकि असल आँकड़ा कम-से-कम इसका दूना है), उस देश में हम यह कैसे उम्मीद कर सकते हैं कि वह खेलकूद में विश्वविजेता बनेगा? संयुक्त राष्ट्र बाल कोष (यूनिसेफ़) की रिपोर्ट के अनुसार देश के तक़रीबन आधे बच्चे अपनी उम्र के अनुसार सामान्य से कम वज़न के हैं, 45 प्रतिशत बच्चे सामान्य से कम क़द के हैं, 20 प्रतिशत बच्चे अपने क़द के अनुसार सामान्य से ज़्यादा दुबले-पतले हैं, 75 प्रतिशत रक्तहीनता से पीड़ित हैं, 57 प्रतिशत बच्चों में 'विटामिन ए' की गम्भीर कमी है। पहले स्कूल और आँगनवाड़ी में जो कुछ भी थोड़ा-बहुत मध्याह्न भोजन मिलता था लॉकडाउन के दौरान वह भी अधिकांश जगहों पर बन्द हो गया था और इस अनियोजित लॉकडाउन से करोड़ों मज़दूरों-मेहनतकशों की नौकरियाँ भी चली गयीं। ऐसी हालत में बच्चों का भरण-पोषण कठिन हो गया है। निश्चित ही ऊपर दिये गये आँकड़े आज गम्भीर रूप धारण कर चुके होंगे और तमाम सरकारी और ग़ैर-सरकारी रपटें इस बात की पुष्टि भी कर चुकी हैं।

इसके अलावा बच्चों में बचपन से ही शारीरिक व्यायाम और खेलकूद के बारे में एक स्वस्थ दृष्टिकोण पैदा करने में स्कूलों की एक अहम भूमिका होती है। स्कूल में ही भविष्य के ओलम्पिक खिलाड़ी अपने पेशेवर खेल जीवन की नींव रखते हैं। लेकिन हमारे देश की स्कूली शिक्षा व्यवस्था के जर्जर हालात पर जितनी कम बात की जाये उतना अच्छा है। भारत में माध्यमिक स्कूलों में सकल नामांकन अनुपात 79 प्रतिशत है। इसका मतलब माध्यमिक स्कूल में पढ़ने योग्य बच्चों में से सिर्फ़ 79 प्रतिशत ही असल में स्कूल में नाम लिखाते हैं। इनमें से भी 17 प्रतिशत दसवीं की परीक्षा पास करने से पहले ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। ज़ाहिर-सी बात है, ये बच्चे जो स्कूलों से बाहर रहते हैं, छोटे-मोटे उद्योग धन्धों या मज़दूरी में लग जाते हैं। एक रिपोर्ट के अनुसार भारत में 33 प्रतिशत स्कूलों में शारीरिक शिक्षा की कोई अलग से क्लास नहीं दी जाती है, 80 प्रतिशत स्कूलों के पास ऐसे शिक्षक नहीं हैं जो शारीरिक शिक्षण-प्रशिक्षण देते हैं, 33 प्रतिशत स्कूलों के पास अपना खेल का मैदान या खेल के उपकरण नहीं हैं। ऐसी स्थिति में अगर हमारे बच्चे स्कूल पहुँच भी जाते हैं तो हमें यह ग़लतफ़हमी नहीं होनी चाहिए कि स्कूल में उनके अन्दर कसरत और खेलकूद के प्रति रुचि पैदा करने लिए कोई सचेत प्रयास किया जायेगा।

देश में एक सक्रिय खेल संस्कृति का निर्माण, तृणमूल स्तर पर खेलों का प्रचार प्रसार, खेल अवसंरचना का निर्माण, युवा अवस्था में प्रतिभाशाली खिलाड़ियों की तलाश कर उनको उन्नत प्रशिक्षण और मार्गदर्शन देना आदि बुनियादी चीज़ों में देश की किसी सरकार ने कभी कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं दिखायी है। 2018 में केन्द्रीय खेल मंत्री ने इस बात की पुष्टि की कि भारत सरकार खेलों पर प्रतिदिन प्रति-व्यक्ति सिर्फ़ तीन पैसे ख़र्च करती है, जबकि चीन प्रतिदिन प्रति-व्यक्ति 6.1 रुपये ख़र्च करता है जो भारत के मुक़ाबले 200 गुना ज़्यादा है। पिछले दस सालों में भारत सरकार अपने कुल सरकारी व्यय का महज़ 0.06 से 0.08 प्रतिशत ही खेलों पर ख़र्च करती आ रही है। 2021 ओलम्पिक वर्ष होने के बावजूद इस साल के बजट में खेल मंत्रालय को 230 करोड़ रुपये कम दिये हैं। आये दिन अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय स्तर के खिलाड़ी, कोच और सहयोगी स्टाफ़ निम्न दर्जे की सेवाओं के ख़िलाफ़ शिकायत करते रहते हैं मगर खेल मंत्रालय और दूसरी सम्बन्धित संस्थाओं के कान पर जूँ नहीं रेंगती है। मज़ेदार बात यह है कि खेल मंत्रालय का सालाना बजट जितना होता है भारतीय क्रिकेट बोर्ड लगभग उसके समान ही सालाना मुनाफ़ा कमा लेता है। क्रिकेट बड़ी इजारेदार पूँजी के लिए ताबड़तोड़ मुनाफ़ा पीटने का एक स्रोत बन गया है, इसलिए सरकार से भी भारतीय क्रिकेट बोर्ड को पूरा समर्थन मिलता है। वहीं बात की जाये यदि अन्य नये-पुराने खेलों के बारे में तो ये भी सारे भारत में एक धीमी दर्दनाक मौत मर रहे हैं। इस पूँजीवादी व्यवस्था में बस उसी खेल को बढ़ावा दिया जायेगा जिसमें भारी मुनाफ़ा कमाने की सम्भावनाएँ मौजूद होंगी। आज सरकार कुछ खिलाड़ियों के जीत कर लौटने पर उनका स्वागत कर रही है, उनका सम्मान कर रही है लेकिन कोई यह सवाल क्यों नहीं पूछता कि कहाँ थी राज्य सरकारें और केन्द्र सरकार जब इन खिलाड़ियों को फ़ण्ड, सुविधाओं और खेल उपकरणों की आवश्यकता थी। यहाँ भी भेदभाव साफ़ दिख रहा है। जिन खिलाड़ियों ने पदक जीता है उन्हें बड़ी-बड़ी धनराशि देने की घोषणाएँ की जा रही हैं लेकिन अगले ओलम्पिक के लिए तैयारी तो सभी खिलाड़ियों को एक समान ही करनी है। सरकारों के लिए यह सब चिन्ता का विषय नहीं है क्योंकि उनके लिए खेलकूद कोई महत्व नहीं रखता और इन्हें पता है कि मेहनत करके कल कोई और पदक ले ही आयेगा तब अपनी पीठ ये स्वयं थपथपा लेंगे जैसे आज मोदी कर रहा है।

एक अच्छा स्वस्थ मानवीय जीवन और बच्चों का सर्वांगीण विकास खिलाड़ी बनने की पूर्वशर्त है। इस चरमरायी हुई पूँजीवादी व्यवस्था के पास वह क्षमता नहीं है कि वह देश की मेहनतकश आबादी को एक स्वस्थ ख़ुशहाल ज़िन्दगी दे सके और उनके बच्चों का सर्वांगीण विकास कर सके। सिर्फ़ और सिर्फ़ एक समाजवादी व्यवस्था ही हम मज़दूर-मेहनतकशों को एक इज़्ज़त की ज़िन्दगी दे सकती है जिसमें हमारे श्रम को लूटने वाला कोई परजीवी वर्ग नहीं होगा। हमारे अपने और समाज की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के बाद जो 'फ़्री टाइम' बचेगा उसमें हम अपने शौक और मनोरंजन का कोई भी काम कर सकते हैं। और यदि मुनाफ़ा कमाना नहीं बल्कि समाज की आवश्यकताओं को पूरा करना उत्पादन का लक्ष्य हो और सभी स्वस्थ वयस्क व्यक्तियों के लिए उत्पादक श्रम में भागीदारी करना अनिवार्य हो, तो हर किसी के पास बहुत-सा ख़ाली वक़्त बचेगा जिसे वह कला, साहित्य, संस्कृति, खेल, विज्ञान, दर्शन और घुमक्कड़ी में लगा सकता है। साथ ही स्वयं उत्पादक की प्रक्रिया किसी लुटेरे वर्ग के लिए मजबूरी में की जाने वाली प्रक्रिया नहीं होगी, बल्कि यह स्वयं आनन्द का विषय होगी। यदि श्रम मजबूरी में या ज़ोर-ज़बर्दस्ती के कारण न हो, तो यह तो आनन्द का विषय होता है क्योंकि यह मनुष्य को पशु से मनुष्य बनाने वाली प्रक्रिया है और हमारी प्रकृति का अंग है। इसलिए मज़दूर राज और समाजवाद में तो धीरे-धीरे ख़ाली टाइम की अवधारणा ही ख़त्म हो जायेगी क्योंकि किसी और के मुनाफ़े की ख़ातिर मजबूरी में खटने वाले 'काम के टाइम' और 'फ़्री-टाइम' का अन्तर ही ख़त्म हो जायेगा। स्कूल, कारख़ानों, खेतों और दफ़्तरों में हर जगह कसरत के लिए लोगों को प्रोत्साहित किया जायेगा। हम और हमारे बच्चे जो भी खेल खेलना चाहें उसके लिए हमारी मज़दूर सत्ता हमें हर सम्भव सुविधा मुहैया करवायेगी। खेल आर्थिक सामर्थ्य से की जाने वाली कोई क्रिया नहीं बल्कि सामूहिक जीवन का एक ज़रूरी अंग बन जायेगा जिसका आनन्द सभी उठा सकेंगे। सोवियत संघ और चीन में मज़दूरों की सत्ता क़ायम होने के बाद यही हुआ। 1952 से 1988 के बीच सोवियत संघ ने ओलम्पिक खेलों में जो अद्भुत कामयाबी हासिल की उसके पीछे उसके क्रन्तिकारी दौर – यानी 1917 से 1953 – की खेल नीतियों का ही हाथ था। एक समाजवादी व्यवस्था में मानव जीवन के हर पहलू की तरह खेल भी एक उन्नत स्तर पर पहुँच पायेगा और एक स्वस्थ खेल संस्कृति अस्तित्व में आ सकती है।

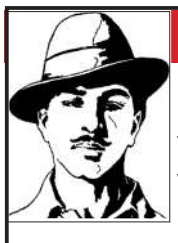

भगतसिंह के जन्मदिवस (28 सितम्बर) पर

क्रान्ति से हमारा अभिप्राय है – अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन। समाज का प्रमुख अंग होते हुए भी आज मज़दूरों को उनके प्राथमिक अधिकार से वंचित रखा जा रहा है और उनकी गाढ़ी कमाई का सारा धन शोषक पूँजीपति हड़प जाते हैं। दूसरों के अन्नदाता किसान आज अपने परिवार सहित दाने-दाने के लिए मुहताज हैं। दुनिया भर के बाज़ारों को कपड़ा मुहैया करने वाला बुनकर अपने और अपने बच्चों के तन ढँकने-भर को भी कपड़ा नहीं पा रहा है। सुन्दर महलों का निर्माण करने वाले राजगीर, लोहार और बढ़ई स्वयं गन्दे बाड़ों में रहकर ही अपनी जीवन-लीला समाप्त कर जाते हैं। इसके विपरीत समाज के जोंक शोषक पूँजीपति ज़रा-ज़रा-सी बातों के लिए लाखों का वारा-न्यारा कर देते हैं।

यह भयानक असमानता और ज़बर्दस्ती लादा गया भेदभाव दुनिया को एक बहुत बड़ी उथल-पुथल की ओर लिये जा रहा है। यह स्थिति अधिक दिनों तक क़ायम नहीं रह सकती। स्पष्ट है कि आज का धनिक समाज एक भयानक ज्वालामुखी के मुख पर बैठकर रंगरेलियाँ मना रहा है और शोषकों के मासूम बच्चे तथा करोड़ों शोषित लोग एक भयानक खड्ड की कगार पर चल रहे हैं।

(बम काण्ड पर सेशन कोर्ट में बयान)

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक : अभिनव ● सम्पादकीय पता : 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006